PADYA-PARIJAT

A SELECTION FROM PROMINENT POETS OF HINDI

SUITED FOR

High School Classes of the United Provinces
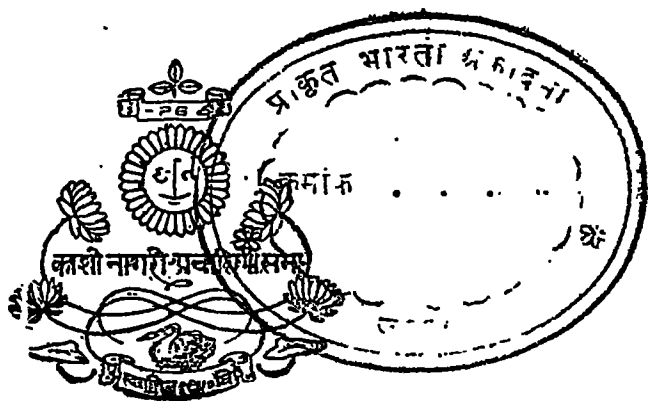
Compiled and edited

BY

KESHAVA PRASAD MISRA

AND

PITAMBER DATT BARTHWAL

Published by the Nagari-Pracharini Sabha, Benares

1935

पद्य-पारिजात

अर्थात्

हिंदी के प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमुख कवियों की कविताओं का संग्रह

संयुक्त प्रदेश के हाई स्कूल-क्लासों के निमित्त

संकलनकर्त्ता तथा संपादक

केशवप्रसाद मिश्र और पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

चतुर्थ वार] १९३५

आमुख

गद्य में स्वच्छंद पदन्यास करके अपनी निसर्ग-मधुरता का परिचय देनेवाली वाणी को पद्य में बहुत कुछ परवश होना पड़ता है। छंद के शासन में, कला के संकेत पर, कभी उसे गजगति स्वीकार करनी पड़ती है तो कभी सरपट तुरंग-प्रयाण। कभी अत्यधिक अर्थ वहन करने के लिये अति संक्षिप्त पदावली रखी जाती है और कभी अत्यल्प अर्थ के लिये दीर्घदीर्घतर चरणन्यास होता है। इस संक्षेप-विस्तार-क्रिया में भाषा-सौष्ठव की रक्षा वही कर सकता है जिसने प्रतिभा देवी की सतत उपासना से वाग्योग सिद्ध किया है। किन्तु इस प्रकार का वाग्वैभव केवल पद्य की उत्तमता का निदर्शन है, काव्य की कसौटी नहीं। काव्य इससे कहीं उच्च भूमिका की वस्तु है।

प्रस्तुत संग्रह "काव्य-कल्पलता" न होकर "पद्य-पारिजात" है। इस नाम-करण के दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि संगृहीत सभी पद्य काव्यलक्षण-लक्षित नहीं, दूसरे भ्रमर-वृद्धि विद्यार्थियों को पहले पद्य ही की विशेषताओं का परिचय देना अधिक अभीष्ट है। शब्दशक्ति, अर्थभेद, वाक्य-विन्यास, रचना-चातुर्य, शैली-स्वरूप आदि का समीचीन ज्ञान हो जाने पर ही पद्य की अंतरात्मा का साक्षात्कार होता है। इन विषयों

में पर्याप्त व्युत्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् ही भावग्रहण का अधिकार मिलता है।

"पद्य-पारिजात" का संकलन काव्य-काल-क्रम के अनुसार केवल इसी लिये नहीं किया गया है कि एकत्र ही क्रमिक उदाहरणों का समवाय सुलभ हो जाय, किंतु इसलिये भी कि छात्रों में अनंतकाल से स्यंदमान इस एक सरस्वती-धारा की प्रत्यक्ष अनेकरूपता के अनुसंधान की स्वतः प्रवृत्ति जागरित हो।

यह पारिजात विद्यार्थियों के हाथ में इसलिये दिया जाता है कि वे इसकी कली से कुसुम तक, समग्र जीवन, की शोभा का निरीक्षण करें और इसके पराग, मकरंद आदि का सदुपयोग करें।

एक बात और। "मधुरेण समापयेत्" के अनुसार अंत में सत्पात्र विद्यार्थियोंके लिये "रस-चषक" (रसों का प्याला) भरा गया है। कवित्व उससे छलका पड़ता है। जो सहृदय रसज्ञ होंगे वे तो बिना कहे ही उसे एक साँस में सुड़क जायँगे। है भी वह इसी के लिये।

पुस्तक के अंत में, "चूर्णिका" के रूप में, कुछ ऐसी टिप्पणियाँ दी गई हैं जिनसे दुर्बोध तथा गूढ़ स्थलों पर बहुत सहायता प्राप्त होगी।

—संपादक

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ
१ कबीर	...	...	...	१
२ मलिक मुहम्मद जायसी...		...	...	६
३ सूरदास	...	...	...	१३
४ गोस्वामी तुलसीदास	...	...	...	१८
५ अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम'		...	...	३०
६ बिहारीलाल	...	...	...	३४
७ पद्माकर भट्ट	...	...	...	४१
८ नरोत्तमदास	...	...	...	४६
९ हरिश्चंद्र	...	...	...	५१
१० श्रीधर पाठक	...	...	...	५३
११ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'			...	५८
१२ जगन्नाथदास 'रत्नाकर'...		...	...	६६
१३ जयशंकर 'प्रसाद'	...	...	...	७४
१४ मैथिलीशरण गुप्त	...	..	...	७९
१५ राय कृष्णदास	...	...	...	९२
१६ गोपालशरण सिंह	...	...	...	९४

[हिंदी]

पद्य-पारिजात

कबीर

(१) साखी

गुरु गोविँद दोनों खड़े, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गुर दियो बताय ॥ १ ॥
मालन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, काल्हि हमारी बार ॥ २ ॥
बाढ़ी आवत देख करि, तरवर डोलन लाग।
हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ॥ ३ ॥
फागुन आवत देख करि, बन रूना मन माहिं।
ऊँची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थाहिं ॥ ४ ॥
दव की दाधी लाकड़ी, ठाड़ी करै पुकार।
मति बसि परौं लुहार के, जालै दूजी बार ॥ ५ ॥
मेरा बीर लुहारिया, तू मति जालै मोहि।
इक दिन ऐसा आइगा, हौं जालौंगी तोहि ॥ ६ ॥

जिभ्या में अमृत बसै, जो कोइ जानै बोलि।
बिस वासिक का ऊतरै, जिभ्या काहि हिलोलि ॥ ७ ॥
रोड़ा ह्वै रहु बाट का, तजि पाषँड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहे, ताहि मिलैं भगवान ॥ ८ ॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहिए, जिसी जिमीं की खेह ॥ ९ ॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए, पांणीं जैसा रंग ॥ १० ॥
पांणीं भया तो क्या भया, ताता सीता होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, जैसा हरि ही होइ ॥ ११ ॥
हरि भया तो क्या भया, जासैं सब कुछ होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, हरि भजि निरमल होइ ॥ १२ ॥
कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकास।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥ १३ ॥
तेरा साँई तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढै घास ॥ १४ ॥
साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ॥ १५ ॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्रान ॥ १६ ॥
बिरह कमंडल कर लिए, बैरागी दो नैन।
माँगैं दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन ॥ १७ ॥

मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेय मुड़ाय ।
बार-बार के मूड़ते, भेड़ न बैकुंठ जाय ॥ १८ ॥
सिंहों के लहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँति ।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति ॥ १६ ॥
लघुता से प्रभुता मिलै, प्रभुता से प्रभु दूरि ।
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि ॥ २० ॥
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान ते, मूरख भुगतै रोय ॥ २१ ॥
हवस करै पिय मिलन की, औ सुख चाहै अंग ।
पीर सहे बिनु पदमिनी, पूत न लेत उछंग । २२ ॥
छिमा बड़न को चाहिए, छोटन को उतपात ।
कहा बिष्नु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥ २३ ॥
खूँदन तो धरती सहै, काट कूट बनराइ ।
संत सहैं दुरजन बचन, औरन सहा न जाइ ॥ २४ ॥
करगस सम दुरजन बचन, रहै संत जन टारि ।
बिजुली परै समुद्र में, कहा सकैगी जारि ॥ २५ ॥
कबिरा गुरु के मिलन की, बात सुनी हम दोय ।
कै साहेब को नाम लै, कै कर ऊँचा होय ॥ २६ ॥
ऋतु बसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात ।
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहि जात ॥ २७ ॥
जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम ।
दोऊ हाथ उलीचिए, यहि सज्जन कौ काम ॥ २८ ॥

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥ २९॥

साधू गाँठि न बाँधई, उदर समाता लेय।
आगे पाछे हरि खड़े, जब माँगे तब देय॥ ३०॥

गोधन गजधन बाजधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोषधन, सब धन धूरि समान॥ ३१॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचैं सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय॥ ३२॥

साँचे कोइ न पतीजई, झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय॥ ३३॥

चातक सुतहि पढ़ावहीं, आन नीर मत लेय।
मम कुल यही सुभाव है, स्वाति बूँद चित देय॥ ३४॥

ऊँची जाति पपीहरा, पियै न नीचा नीर।
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर॥ ३५॥

साधु कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर॥ ३६॥

हंसा बक एक रँग लखिय, चरैं एक ही ताल।
छीर नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल॥ ३७॥

खुलि खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय।
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय॥ ३८॥

(२) सबद

मोको कहाँ ढूँढ़ता बंदे, मैं तो तेरे पास में ।
ना मैं छगरी ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरा गड़ास में ॥
नहीं खाल में, नहीं पूँछ में, ना हड्डी ना मास में ।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में ॥
ना तो कौनो क्रिया करम में, नहीं जोग बिराग में ।
खोजी होय तो तुरँ मिलिहौं, पल भर की तालास में ॥
मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब साँसों की साँस में ॥ १ ॥

दुइ जगदीस कहाँ ते आए, कहु कौने भरमाया ।
अल्ला राम करीमा केसो हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुइ कर थांपे, यक नेवाज यक पूजा ॥
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिए ।
कोइ हिंदू कोइ तुरक कहावै, एक जमीं पर रहिए ॥
वेद किताब पढ़ै वे कुतबा, वे मौलाना वे पाँड़े ।
बिगत बिगत कै नाम धरायो, यक माटी के भाँड़े ॥
कह कबीर वे दोनों भूले, रामहि किनहु न पाया ।
वे खसिया वे गाय कटावैं, बादै जन्म गँवाया ॥ २ ॥

मुलां करि ल्यौ न्याव खुदाई,
इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥ टेक ॥

सरजी आनें देह विनासै, माटी विसमल कीता।
जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता॥
वेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जो न विचारै।
सब घटि एक एक करि जानैं, तउ दूजा करि मारै॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक करि बोलै।
सबै जीव साँईं के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै॥
दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हा, उसका षोज न जाना।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन माना॥ ३॥

काहे री नलनीं तूं कुमिलाँनीं,
तेरें ही नालि सरोवर पानीं॥ टेक॥
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनीं तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि।
कहै कबीर जे उदिक समांन, ते नहीं मुए हमारे जान॥ ४॥

बागड़ देस लूवन का घर है,
तहां जिनि जाइ दाझन का डर है॥ टेक॥
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत अबीरा।
न तहां सरवर न तहां पांणीं न तहां सतगुर साधू बांणीं।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊँचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गँभीर, डग डग रोटी पग पग नीर।
कहै कबीर घरहीं मन मांनां, गूँगे का गुड़ गूँगै जांनां॥ ५॥

हरि बिन बैल बिराने ह्वैहै ।
चार पाँव दुइ सिंग गुंग मुख तब कैसे गुन गैहै ।
ऊठत बैठत ठेंगा परिहै तब कत मूड़ लुकैहै ।
फाटे नाकन टूटे काँधन कोदौ को भुस खैहै ।
सारो दिन डोलत बन महिया अजहुँ न पेट अघैहै ।
जन भगतन को कहो न मानो कीयो अपनो पैहै ।
दुख सुख करत महाभ्रम बूड़ौ अनिक योनि भरमैहै ।
रतन जनम खोयो प्रभु बिसर्‌यो इह अवसर कत पैहै ।
भ्रमत फिरत तेलक के कपि ज्यों गति बिनु रैनि बिहैहै ।
कहत कबीर राम नाम बिनु मूँड़ धुनै पछितैहै ॥ ६ ॥

हरि बिन कौन सहाई मन का ।
मात पिता भाई सुत बनिता हितु लागो सब फन का ।
आगे कौ किछु तुलहा बाँधहु कहा भरोसा धन का ।
कहा बिसासा इस भाँडे का इतनुक लागे ठनका ।
सगल धर्म पुन्न-फल पावहु बाँछहु पद-रज जन का ।
कहै कबीर सुनहु रे संतहु इहु मन उड़न पखेरू बन का ॥७॥

ऐसे लोगन स्यों क्या कहिए ।
हरि जस सुनहि न हरि गुन गावहि, बातन ही असमान गिरावहि ।
जो प्रभु कीए भगति ते बाँहज, तिनते सदा डराने रहिए ।
आप न देहि चुरू भरि पानी, तिहि निंदहिँ जिह गंगा आनी ।
बैठत उठत कुटिलता चालहिं, आप गए औरनहू घालहिं ।

छाड़ि कुचर्चा आन न जानहि, ब्रह्माहू को कह्यो न मानहि ।
आप गए औरनहू खोवहिं, आगि लगाइ मँदिर में सोवहिं ।
औरन हँसत आप हहिं काने, तिनको देखि कबीर लजाने ॥८॥

हृदय कपट मुख ज्ञानी, झूठे कहा बिलोवसि पानी ।
काया मांजसि कौन गुना, जौ घट भीतर है मलनां ।
लौकी अठसठि तीरथ न्हाई, करुआपन तऊ न जाई ।
माँगत कबीर बारंबारी, भव सागर तारि मुरारी ॥९॥

मलिक मुहम्मद जायसी

गोरा बादल की वीरता

पदमावति के भेस लोहारू । निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू ॥
उठा कोपि जस छूटा राजा । चढ़ा तुरंग सिंघ अस गाजा ॥
गोरा बादल खाँड़ै काढ़े । निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े ॥
लेइ राजा चितउर कहँ चले । छूटेउ सिंघ मिरिग खलभले ॥
चढ़ा साहि, चढ़ि लाग गोहारी । कटक असूझ परी जग कारी ॥
फिरि गोरा बादल सौं कहा । गहन छूटि पुनि चाहै गहा ॥
चहुँ दिसि आवै लोपत भानू । अब इहै गोइ, इहै मैदानू ॥
तुइ अब राजहि लेइ चलु गोरा । हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा ॥

आजु खड़ग चौगान गहि, करौ सीस-रिपु गोइ ।
खेलौं सौंह साह सौं, हाल जगत महँ होइ ॥

तब अगमन होइ गोरा मिला । तुइ राजहि लेइ चलु बादला ॥
पिता मरै जो सँकरे साथा । मीचु न देइ पूत के माथा ॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी । का पछिताव आउ जौ पूजी ? ॥
बहुतन्ह मारि मरौं जौ जूझी । तुम जिनि रोयहु तौ मन बूझी ॥
कुँवर सहस सँग गोरा लीन्हे । और बीर बादल सँग कीन्हे ॥
गोरहि समदि मेघ अस गाजा । चला लिए आगे करि राजा ॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा । पूरुष देखि चाव मन बाढ़ा ॥

आव कटक सुलतानी, गगन छपा मसि माँझ ।
परति आव जग कारी, होति आव दिन साँझ ॥
फिरि आगे गोरा तब हाँका । खेलौं, करौं आजु रन-साका ॥
हौं कहिए धौलागिरि गोरा । टरौं न टारे, अंग न मोरा ॥
ओनई घटा चहूँ दिसि आई । छूटहिं बान मेघ-झरि लाई ॥
डोलै नाहिं देव जस आदी । पहुँचे आइ तुरुक सब बादी ॥
हाथन्ह गहे खड़ग हरद्वानी । चमकहिं सेल बीजु कै बानी ॥
सोझ बानजस आवहिंगाजा । बासुकि डरै सीस जनु बाजा ॥
नेजा उठे डरै मन इंदू । आइ न बाज जानि कै हिंदू ॥
गोरै साथ लीन्ह सब साथी । जस मैमंत सूँड़ बिनु हाथी ॥
सब मिलि पहिलि उठौनी कीन्ही । आवत आइ हाँक रन दीन्ही ॥
रुंड मुंड अब टूटहि स्यो बखतर औ कूँड़ ।
तुरय होहिं बिनु काँधे, हस्ति होहिं बिनु सूँड़ ॥
भइ बगमेल, सेल घनघोरा । औ गज-पेल, अकेल सो गोरा ॥
सहस कुँवर सहसौ सत बाँधा । भार-पहार जूझ कर काँधा ॥
लगे मरै गोरा के आगे । बाग न मोर घाव मुख लागे ॥
जैस पतंग आगि धँसि लेई । एक मुवै, दूसर जिउ देई ॥
टूटहिं सीस, अधर धर मारै । लोटहिं कंधहिं कंध निरारै ॥
कोई परहिं रुहिर होइ राते । कोई घायल घूमहिं माते ॥
कोइ खुरखेह गए भरि भोगी । भसम चढ़ाइ परे होइ जोगी ॥
घरी एक भारत भा, भा असवारन्ह मेल ।
जूझि कुँवर सब निवरे, गोरा रहा अकेल ॥

गोरै देख साथि सब जूझा। आपन काल नियर भा, बूझा॥
कोपि सिंघ सामुँह रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मरै अकेला॥
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसे पवन बिदारै घटा॥
जेहि सिर देइ कोपि करवारू। स्यों घोड़े टूटै असवारू॥
लोटहिं सीस कबंध निनारे। माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे॥
खेलि भाग सेंदुर छिरकावा। चाँचरि खेलि आगि जनु लावा॥
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका। ताहि कीन्ह सो रुधिर भभूका॥

भइ अज्ञा सुलतानी, "बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगे लिए पदारथ साथ"॥

सबै कटक मिलि गोरहि छेका। गूँजत सिंघ जाइ नहिं टेका॥
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहि ठाँव न आवा॥
तुरुक बोलावहिं बोलै बाँहाँ। गोरै मीचु घरी जिउ माहाँ॥
मुए पुनि जूझि जाज जगदेऊ। जियत न रहा जगत महँ केऊ॥
जिनि जानहु गोरा सो अकेला। सिंघ के मोंछ हाथ को मेला?॥
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुए पाछ कोई घिसियावा॥
करै सिंघ मुख सौंहहि दीठी। जौ लगि जियै देइ नहिं पीठी॥

रतनसेन जो बाँधा, मसि गोरा के गात।
जौ लगि रुधिर न धोवौं, तौ लगि होइ न रात॥

मारेसि साँग पेट महँ धँसी। काढ़ेसि हुमुकि आँति भुइँ खसी॥

भाँट कहा, धनि गोरा, तू भा रावन राव।
आँति समेटि बाँधि कै, तुरय देत है पाँव॥

कहेसि अंत अब भा भुइँ परना। अंत त खसे खेह सिर भरना॥

कहि कै गरजि सिंघ अस धावा। सरजा सारदूल पहँ आवा ॥
सरजै लीन्ह साँग पर घाऊ। परा खड़ग जनु परा निहाऊ ॥
वज्र क साँग वज्र कै डाँड़ा। उठी आगि तस वाजा खाँड़ा ॥
मानहुँ वज्र वज्र सौं वाजा। सब ही कहा परी अब गाजा ॥
दूसर खड़ग कंध पर दीन्हा। सरजै ओहि ओड़न पर लीन्हा ॥
तीसर खड़ग कूँड़ पर लावा। काँध गुरुज हुत, घाव न आवा ॥

तस मारा हठि गोरै, उठी वज्र कै आगि।
कोइ नियरे नहिं आवै, सिंघ सदूरहि लागि ॥

तब सरजा कोपा वरिबंडा। जनहु सदूर केर भुजदंडा ॥
कोपि गरजि मारेसि तस वाजा। जानहु परी टूटि सिर गाजा ॥
ठाँठर टूट, फूट सिर तासू। स्यो सुमेरु जनु टूट अकासू ॥
धमकि उठा सब सरग पतारू। फिरि गइ दीठि, फिरा संसारू ॥
भइ परलय अस सबही जाना। काढ़ा खड़ग सरग नियराना ॥
तस मारेसि स्यों घोड़ै काटा। धरती फाटि, सेस-फन फाटा ॥

गोरा परा खेत महँ, सुर पहुँचावा पान।
वादल लेइगा राजा, लेइ चितउर नियरान ॥

(पद्मावत)

सूरदास

पद

हौं हरि सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक॥
जैसो तुम अजामेलि को दीनो सोइ पटो लिखि पाऊँ।
तौ विस्वास होइ मन मेरे औरो पतित बुलाऊँ॥
सिमिटे जहाँ तहाँ सब कोऊ आय जुरे इक ठौर।
अब के इतने आन मिलाऊँ बेर दूसरी और॥
होड़ाहोड़ी मन हुलास करि करे पाप भरि पेट।
सबै पतित पाँयन तर डारों इहै हमारी भेँट॥
बहुत भरोसो जानि तुम्हारो अघ कीन्हें भरि भाँड़ो।
लीजै नाथ निबेरि तुरंतहिं सूर पतित को टाँड़ो॥ १॥

प्रभु मैं सब पतितन को टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के मैं तौ जन्मत ही कौ॥
बधिक अजामिलि गनिका त्यारी और पूतना ही कौ।
मोहि छाँड़ि तुम और उधारे मिटै सूल क्यों जी कौ॥
कोउ न समरथ अब करिबे को खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि में कहत सबन में नीकौ॥ २॥

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हौ प्रभु दीन-दयाल॥

चित्त निरंतर चरनन अनुरत रसना चरित रसाल ।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन कर कंजनि दल माल ॥
ऐसे रहत, लिखै छिनु छिनु जम अपनो भायो जाल ।
'सूर' सुजस-रागी न डरत मन सुनि जातना कराल ॥ ३ ॥

प्रभु मेरे औगुन चित न धरो ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो ॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो ।
यह दुबिधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरो ॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो ।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो ॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत 'सूर स्याम' झगरो ।
अब की बेर मोहिं पार उतारो नहिं पन जात टरो ॥ ४ ॥

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै ॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै ।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥ ५ ॥

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ।
किती बार मोहिं दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी ।
काढ़त गुहत न्हवावत ओंछत नागिनि सी भुँइ लोटी ॥

काचो दूध पिश्रावत पचि पचि देत न माखन रोटी ।
'सूर' स्याम चिरजिव दोउ भैया हरि हलधर की जोटी ॥६॥

बलि बलि जाउँ मधुर सुर गावहु ।
अबकी बार मेरे कुँवर कन्हैया नंदहि नाच देखावहु ॥
तारी देहु आपने कर की परम प्रीति उपजावहु ।
आन जंत्र धुनि सुनि डरपत कत मो भुज कंठ लगावहु ॥ ७ ॥
जिन संका जिय करो लाल मेरे काहे को भरमावहु ।
बाँह उँचाइ कालि की नाईं धौरी धेनु बुलावहु ॥
नाचहु नेकु जाउँ बलि तेरी मेरी साध पुरावहु ।
रतनजटित किंकिनि पग नूपुर अपने रंग बजावहु ॥
कनक खंभ प्रतिबिंबित सिसु इक लौनी ताहि खवावहु ।
'सूर' स्याम मेरे उर ते कहुँ टारे नेकु न भावहु ॥ ८ ॥

सोभित कर नवनीत लिए ।
घुटुरुन चलत, रेणु तन मंडित, मुख दधिलेप किए ॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए ।
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन मादक मदहि पिए ॥
कँठुला कंठ वज्र, केहरि-नख राजत रुचिर हिए ।
धन्य सूर एकौ पल या सुख का सत कल्प जिए ॥ ९ ॥

किहि बिधि करि कान्है समुझैहैां ।
मैं ही भूलि चंद दिखरायो ताहि कहत "मोहि दै, मैं खैहैां" ॥
अनहोनी कहुँ होत कन्हैया! देखी सुनी न बात ।
यह तैा आहि खिलौना सबको खान कहत तेहि तात ॥

यहै देत लवनी नित मोको छिन छिन साँझ सवारे।
बार बार तुम माखन माँगत देउँ कहाँ ते प्यारे॥
देखत रहौ खिलौना चंदा आरि न करो कन्हाई।
'सूर' स्याम लियो महरि जसोदा नंदहिँ कहत बुझाई॥१०॥

विधातहिँ चूक परी मैं जानी।
आजु गोबिंदहिँ देखि देखि हौं इहै समुझि पछितानी॥
रचि पचि सोचि सँवारि सकल अंग चतुर चतुरई ठानी।
दीठि न दई रोम रोमनि प्रति इतनिहिं कला नसानी॥
कहा करौं अति सुख दुइ नैना उमँगि चलत भरि पानी।
'सूर' सुमेर समाइ कहाँ धौं बुधि बासनी पुरानी॥११॥

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पायँ ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु आज्ञागुरु, कटि टेढ़ी ह्वै जावति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरधर नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर-पल्लव सन पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पर कोपि कुपावति।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छिन,अधर सु सीस डोलावति॥१२॥

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
वृथा वहति जमुना,खग बोलत,वृथा कमल फूलै अलि गुंजैं।
पवन,पानि,घनसार,सजीवनि,दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं॥

ये ऊधो कहियो माधव सों बिरह करद कर मारत लुंजैं ।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं ॥१३॥

दूर करहु बीना कर धरिबो ।
मोहे मृग नाहों रथ हाँक्यो नाहिन होत चंद्र को ढरिबो ॥
बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम-पास को परिबो ।
जब तें बिछुरे कमल-नयन सखि, रहत न नयन-नीर को गरिबो ॥
सीतल चंद अगिन सम लागत कहिए धीर कौन बिधि धरिबो ।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो ॥१४॥

निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे ॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भए कारे ।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे ॥
'सूरदास' प्रभु अंबु बढ़्यो है गोकुल लेहु उबारे ।
कहँ लौं कहौं स्याम घन सुंदर बिकल होत अति भारे ॥ १५ ॥

ऐसो माई एक कोद को हेत ।
जैसे बसन कुसुम रँग मिलि कै नेकु चटक पुनि सेत ॥
जैसे करनि किसान बापुरो नौ नौ बाहैं देत ।
एते ही पै नीर निठुर भयो उमँगि आय सब लेत ॥
सब गोपी भाखैं ऊधो सों सुनियो बात सचेत ।
सूरदास प्रभु जन तें बिछुरे ज्यों कृत राई रेत ॥ १६ ॥

(सूरसागर)

गोस्वामी तुलसीदास

(१) पद

गए राम सरन सबकौ भलो ।
गनी गरीब, बड़ो छोटो, बुध मूढ़, हीनबल अतिबलो ॥
पंगु अंध निरगुनी निसंबल जो न लहै जाँचे जलो ।
सो निबह्यो नीके जो जनमि जग राम-राजमारग चलो ॥
नाम-प्रताप-दिवाकर-कर खर गरत तुहिन ज्यों कलिमलो ।
सुत हित नाम लेत भवनिधि तरि गयो अजामिल सो खलो ॥
प्रभु-पद-प्रेम प्रनाम कामतरु सद्य बिभीषन को फलो ।
तुलसी सुमिरत नाम सबनि को मंगलमय नभ जल थलो ॥ १ ॥

सुजस सुनि स्रवन हौं नाथ! आयो सरन ।
उपल केवट गीध सवरी संसृत-समन,
सोक स्रमसीव सुग्रीव आरति हरन ।
राम राजीव-लोचन बिमोचन बिपति,
श्याम नव तामरस-दाम बारिद-बरन ।
लसत जट जूट सिर चारु मुनि-चीर कटि,
धीर रघुबीर तूनीर-सर-धनु-धरन ।
जातुधानेस भ्राता बिभीषन नाम,
बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन ।
पतितपावन प्रनतपाल करुनासिंधु,

राखिए मोहि सौमित्रि-सेवित-चरन।
दीनता प्रीति संकलित मृदु बचन सुनि,
पुलकि तन प्रेम, जल नयन लागे भरन।
बोलि, लंकेस कहि अंक भरि भेंटि प्रभु,
तिलक दियो दीन-दुख-दोष-दारिद-दरन।
रातिचर-जाति आराति सब भाँति गत,
कियो सो कल्यान-भाजन सुमंगल करन।
दास तुलसी सदय हृदय रघुवंसमनि,
पाहि कहे काहि कीन्हों न तारनतरन॥ २॥

(गीतावली)

(२) भरत-मिलन

दो०—तेहि बासर बसि प्रातही चले सुमिरि रघुनाथ।
राम-दरस की लालसा भरत सरिस सब साथ॥

मंगल सगुन होहिं सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं राम मिटिहि दुषदाहू॥
करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिं सनेहसुरा सब छाके॥
सिथिल अंग पग मन डगि डोलहिं। बिहवल बचन प्रेमबस बोलहिं॥
रामसखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि सहज सुहावा॥
जासु समीप सरित-पय-तीरा। सीय समेत बसहिं दोउ बीरा॥
देखि करहिं सब दंडप्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा॥
प्रेममगन अस राज-समाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥

दो०—भरत प्रेम तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कविहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह-मम-मलिन-जनेषु॥
सकल सनेह सिथिल रघुवर के। गए कोस दुइ दिनकर ढरके॥
जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ-पिरीते॥
उहाँ रामु रजनी अवसेखा। जागे सींय सपन अस देखा॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ वियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखी सासु आन अनुहारी॥
सुनि सियसपन भरे जल लोचन। भए सोचवस सोचविमोचन॥
लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने॥
छंद—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भए।
नभ धूरि खग-मृग भूरि भागे विकल प्रभु आश्रम गए॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे॥
सो०—सुनत सुमंगल बैन, मन प्रमोद तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन, तुलसी भरे सनेह जल॥
बहुरि सोच-बस भे सियरमनू। कारन कवन भरत-आगमनू॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितु वच उत बंधु सँकोचू॥
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं। प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं॥
समाधान तब भा यह जाने। भरत कहे महँ साधु सयाने॥
लषन लखेउ प्रभु-हृदय-खभारू। कहत समय सम नीति विचारू॥

बिनु पूछे कछु कहहुँ गोसाईं । सेवक समय न ढीठ ढिठाई ॥
तुम्ह सर्वज्ञ सिरोमनि स्वामी । आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ॥
दो०—नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील-सनेह-निधान ।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान ॥
विषयी जीव पाइ प्रभुताई । मूढ़ मोहबस होहिं जनाई ॥
भरत नीतिरत साधु सुजाना । प्रभु-पद-प्रेम सकल जग जाना ॥
तेऊ आजु राजपदु पाई । चले धरम मरजाद मिटाई ॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी । जानि राम बनबास एकाकी ॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू । आए करइ अकंटक राजू ॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई । आए दल बटोरि दोउ भाई ॥
जौं जिय होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ-बाजि-गजाली ॥
भरतहि दोष देइ को जाए । जग बौराइ राजपद पाए ॥
दो०—ससि गुरु-तिय-गामी नहुष चढ़ेउ भूमि-सुर-जान ।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान ॥
सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू । केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ । रिपु रिन रंच न राखब काऊ ॥
एक कीन्ह नहिं भरत भलाई । निदरे राम जानि असहाई ॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेखी । समर सरोष राममुख पेखी ॥
एतना कहत नीतिरस भूला । रन-रस-बिटप पुलक मिस फूला ॥
प्रभुपद बंदि सीस रज राखी । बोले सत्य सहज बल भाखी ॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा । भरत हमहि उपचार न थोरा ॥
कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे । नाथ साथ धनु हाथ हमारे ॥

दो०—छत्रिजाति रघुकुल-जनम रामअनुज जग जान ।
लातहुँ मारे चढ़ति सिर नीच को धूरिसमान ॥

उठि कर जोरि रजायसु माँगा । मनहुँ वीर रस सोवत जागा ॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा । साजि सरासन सायक हाथा ॥
आजु रामसेवक जसु लेऊँ । भरतहिं समर सिखावन देऊँ ॥
रामनिरादर कर फल पाई । सोवहु समरसेज दोउ भाई ॥
आइ बना भल सकल समाजू । प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू ॥
जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू । लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जौं सहाय कर संकर आई । तौ मारउँ रन राम दोहाई ॥

दो०—अतिसरोष माषे लषन लखि सुनि सपथ प्रवान ।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान ॥

जग भय मगन गगन भइ बानी । लषन-बाहु-बल विपुल बखानी ॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा । को कहि सकइ को जाननिहारा ॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ । समुझिकरिय भलकहसबकोऊ ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं । कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं ॥
सुनि सुरबचन लषन सकुचाने । राम सीय सादर सनमाने ॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई । सबतें कठिन राजमद भाई ॥
जो अँचवत मातहिं नृप तेई । नाहिन साधु-सभा जेहि सेई ॥
सुनहु लषन भल भरत-सरीसा । विधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥

दो०—भरतहि होइ न राजमद विधि-हरि-हर-पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजीसीकरनि छीर-सिंधु बिनसाइ ॥

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥
गोपद-जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥
मसकफूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहि भाई॥
लषन तुम्हार सपथ पितुआना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनषीर अवगुनजल ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता॥
भरत हंस रवि-बंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा॥
गहि गुन-पय तजि अवगुन-बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥
कहत भरत-गुन-सील-सुभाऊ। प्रेमपयोधि मगन रघुराऊ॥

दो०—सुनि रघुबरबानी बिबुध देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो प्रभु को कृपानिकेतु॥

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल-धरम-धुर धरनि धरत को॥
कवि-कुल-अगम भरत-गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥
लषन राम सिय सुनि सुरबानी। अति सुख लहेउ न जाइ बखानी॥
इहाँ भरत सब सहित सहाए। मंदाकिनी पुनीत नहाए॥
सरित समीप राखि सब लोगा। माँगि मातु-गुरु-सचिव-नियोगा॥
चले भरत जहँ सिय रघुराई। साथ निषादनाथ लघु भाई॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
राम-लषन-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिँ तजि ठाऊँ॥

दो०—मातु मते महँ मानि मोहिं जो किछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥

जौं परिहरहिं मलिन मन जानी। जौं मन मानहिं सेवक मानी॥
मोरे सरन राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोष सब जनहीं॥

जग जस भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नबीना॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहिं मातुकृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत-दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रवाह जल-अलि-गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥

दो०—लगे होन मंगल सगुन सुनि गुनि कहत निषादु।
मिटिहि सोच होइहि हरषु पुनि परिनाम बिषादु॥

सेवक बचन सत्य सब जाने। आस्रम निकट जाइ नियराने॥
भरत दीख बन-सैल-समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥
ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध-ताप-पीड़ित ग्रह भारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरतगति तेहि अनुहारी॥
रामबास बनसंपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जमनियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आस्रित चित चाऊ॥

दो०—जीति मोह-महिपाल-दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राज्य पुर सुख संपदा सुकालु॥

बनप्रदेस मुनिबास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँगन खेरे॥
बिपुल बिचित्र बिहँग मृग नाना। प्रजासमाज न जाइ बखाना॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष बृष साजु सराहा॥
बयरु बिहाय चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥

झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिं॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदितमन॥
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला। सब समाज मुद-मंगल-मूला॥

दो०—रामसैल सोभा निरखि भरत हृदय अति प्रेमु।
तापस तपफल पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु॥

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥
नाथ देखियहि बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥
तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसालु देखि मनु मोहा॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिचल छाँह सुखद सब काला॥
मानहुँ तिमिर-अरुन-मय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुखमा सी॥
ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाई॥
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लषन लगाए॥
बटछाया बेदिका बनाई। सिय निज-पानि-सरोज सुहाई॥

दो०—जहाँ बैठि मुनि-गन-सहित नित सिय राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥

सखाबचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहुँ पारसु पाएउ रंका॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर-मिलन-सरिस-सुख पावहिं
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम-मगन मृग खग जड़ जीवा॥
सखहिं सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला॥

निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेह सराहन लागे॥
होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

दो०—प्रेम अमिय मंदरु बिरह भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटे सुर-साधु-हित कृपासिंधु रघुबीर॥

सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लपन सघन बन ओटा॥
भरत दीख प्रभु आस्रम पावन। सकल-सु-मंगलु-सदन सुहावन॥
करत प्रवेस मिटे दुख-दावा। जनु जोगी परमारथु पावा॥
देखे भरत लषन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे॥
सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे। तून कसे कर सर धनु काँधे॥
वेदी पर मुनि-साधु-समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥
वलकल वसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि वेष कीन्ह रतिकामा॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

दो०—लसत मंजु मुनि-मंडली-मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥

सानुज सखा समेत मगन मन। विसरे हरष-सोक-सुख-दुख-गन॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥
वचन सप्रेम लषन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जिय जाने॥
बंधुसनेह सरस एहि ओरा। उत साहिबसेवा बरजोरा॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकवि लषनमन की गति भनई॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥

दो०—बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहिं अपान ॥

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी । कबि कुल अगम करम मन बानी
परम-प्रेम-पूरन दोउ भाई । मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई । केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥
कबिहिं अरथ आखरबलु साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥
अगम सनेहु भरत रघुबर को । जहँ न जाइ मनु बिधि-हरि-हर को ॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती । बाजु सुराग कि गाँडर ताँती ॥
मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की । सुरगन सभय धुकधुकी धरकी ॥
समुझाए सुरगुरु जड़ जागे । बरषि प्रसून प्रसंसन लागे ॥

दो०—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहिं केवट भेंटेउ राम ।
भूरि भाय भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम ॥

(रामचरितमानस)

(३) चातक-प्रेम

जौ घन बरसै समय सिर, जौ भरि जनम उदास ।
तुलसी याचक चातकहि, तऊ तिहारी आस ॥ १ ॥
चातक ! तुलसी के मते, स्वातिहु पियो न पानि ।
प्रेम-तृषा बाढ़ति भली, घटे घटेगी आनि ॥ २ ॥
रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग ।
तुलसी चातक प्रेम को, नित नूतन रुचि रंग ॥ ३ ॥

बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौं टुक टूक ।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक ॥ ४ ॥

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥ ५ ॥

मान राखिबो, माँगिबो पिय सों नित नव नेहु ।
तुलसी तीनिउ तब फबै, जौ चातक मत लेहु ॥ ६ ॥

तुलसी चातक माँगनो एक, एक घन दानि ।
देत जो भूभाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि ॥ ७ ॥

नहिं जाचत, नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ ।
ऐसे मानी माँगनेहिँ को वारिद बिनु देइ ॥ ८ ॥

साधन साँसति सब सहत, सबहि सुखद फल लाहु ।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुधि काहु ॥ ९ ॥

मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर ।
सुजस धवल, चातक नवल ! रह्यो भुवन भरि तोर ॥१०॥

चरग चंगुगत चातकहिं नेम प्रेम की पीर ।
तुलसी परवस हाड़ पर परिहैं पुहुमी-नीर ॥११॥

बध्यो बधिक, पर्‌यो पुण्य जल, उलटि उठाई चोंच ।
तुलसी चातक प्रेम-पट, मरतहु लगी न खोंच ॥१२॥

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारहीं बार ।
तात न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर-धार ॥ १३ ॥

तुलसी के मत चातकहि केवल प्रेम-पियास ।
पियत स्वाति जल जान जग, जाचत बारहमास ॥१४॥
उष्णकाल अरु देह खिन, मग-पंथी, तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख ॥ १५ ॥

(दोहावली)

अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम'

(१) दोहे

अच्युत - चरन-तरंगिनी, शिव-सिर-मालति-माल ।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इंदव-भाल ॥ १ ॥

खैंचि चढ़नि, ढीली ढरनि, कहहु कौन यह प्रीति ।
आज काल्ह मोहन गही, बंस-दिया की रीति ॥ २ ॥

धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज ।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज ॥ ३ ॥

पसरि पत्र झंपहि पितहिं, सकुचि देत ससि सीत ।
कहु रहीम कुल कमल के, को वैरी को मीत ॥ ४ ॥

बड़े पेट के भरन को, है रहीम दुख बाढ़ि ।
याते हाथिहि हहरि कै, दिए दाँत द्वै काढ़ि ॥ ५ ॥

भलो भयो घर ते छुट्यो, हस्यो सीस परि खेत ।
काके काके नवत हम, अपन पेट के हेत ॥ ६ ॥

मन से कहाँ रहीम प्रभु, दृग सो कहाँ दिवान ।
देखि दृगन जो आदरै, मन तेहि हाथ बिकान ॥ ७ ॥

रहिमन अपने पेट सों, बहुत कह्यो समुझाय ।
जो तू अनखाए रहे, तोसों को अनखाय ॥ ८ ॥

रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥ ९ ॥

रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेस।
भार धरैं संसार को, तऊ कहावत सेस ॥ १० ॥
रहिमन करि सम बल नहीं, मानत प्रभु की धाक।
दाँत दिखावत दीन ह्वै, चलत घिसावत नाक ॥ ११ ॥
रहिमन यों सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखिया निरखि, आँखिन को सुख होत ॥१२॥
रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयन खोय ॥ १३ ॥
रहिमन रिस सहि तजत नहिं, बड़े प्रीति की पौरि।
मूकन मारत आवई, नींद बिचारी दौरि ॥ १४ ॥
बिरह रूप घन तुम भयो, अवधि आस उद्योत।
ज्यों रहीम भादों निसा, चमकि जात खद्योत ॥ १५ ॥
हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर।
खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर ॥ १६ ॥

(२) बरवै

बंदहुँ बिघन-बिनासन, ऋधि-सिधि-ईस।
निर्मल बुद्धि-प्रकासन, सिसु-ससि-सीस ॥ १ ॥
ध्यावहुँ सोच-बिमोचन, गिरिजा-ईस।
नागाभरन त्रिलोचन, सुरसरि सीस ॥ २ ॥
ध्यावहुँ बिपद-बिदारन, सुवन-समीर।
खल-दानव-बन-जारन, प्रिय रघुबीर ॥ ३ ॥

पुन पुन वंदहुँ गुरु के पद-जलजात।
जिहि प्रताप तैं मन के, तिमिर बिलात ॥ ४ ॥
करत घुमड़ि घन घुरवा, मुरवा सोर।
लगि रह बिकसि अँकुरवा, नंदकिसोर ॥ ५ ॥
कहियो पथिक सँदिसवा, गहिके पाय।
मोहन तुम बिन तनकहु, रह्यो न जाय ॥ ६ ॥
भज रे मन नँदनंदन, विपति-विदार।
गोपीजन - मन - रंजन, परम उदार ॥ ७ ॥
जदपि बसत है सजनी, लाखन लोग।
हरि बिन कित यह चित को, सुख संजोग ॥ ८ ॥
इत बातन कछु होत न, कहो हजार।
सब ही तैं हँसि बोलत, नंदकुमार ॥ ९ ॥
बन उपवन गिरि सरिता, जिती कठोर।
लगत देह से बिछुरे, नंद-किसोर ॥ १० ॥
ज्यों चैारासी लखि में, मानुष देह।
त्योंही दुर्लभ जग में, सहज सनेह ॥ ११ ॥
अति अद्भुत छवि-सागर, मोहन गात।
देखत ही सखि बूड़त, दृग-जलजात ॥ १२ ॥
बिन देखे कल नाहिन, यह अखियाँन।
पल पल कटत कलप सों, अहो सुजान ॥ १३ ॥
जब ते बिछुरे मितवा, कहु कस चैन।
रहत भरयौ हिय साँसन, आँसुन नैन ॥ १४ ॥

मनमोहन कीं सजनी, हँसि बतरान।
हिय कठोर कीजत पै, खटकत आन॥ १५॥
जब ते मोहन बिछुरे, कछु सुधि नाहिँ।
रहे प्रान परि पलकनि, दृग मग माहिँ॥ १६॥
उझकि उझकि चित दिन दिन, हेरत द्वार।
जब ते बिछुरे सजनी, नंदकुमार॥ १७॥
रे मन भज निसबासर, श्री बलबीर।
जो बिन जाँचे टारत, जन की पीर॥ १८॥
सबै कहत हरि बिछुरे, उर धर धीर।
बैरी बाँझ न जानै, ब्यावर पीर॥ १९॥
समुझि मधुप कोकिल की, यह रसरीति।
सुनहु श्याम की सजनी, का परतीति॥ २०॥
मोहन जीवन प्यारे, कसि हित कीन।
दरसन ही कों तरफत, ये दृग मीन॥ २१॥
भजि मन राम सियापति, रघुकुल ईस।
दीनबंधु दुख टारन, कौसलधीस॥ २२॥
कै गोयम अहवालम, पेश निगार।
तनहा नज़र न आयद, दिल लाचार॥ २३॥
अहो सुधाधर प्यारे, नेह निचोर।
देखन हीं कों तरसै, नैन चकोर॥ २४॥
आँखिन देखत सबही, कहत सुधारि।
पै जग साँची प्रीत न, चातक टारि॥ २५॥

बिहारीलाल

दोहे

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं, स्यामु हरित-दुति होइ ॥ १ ॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि ॥ २ ॥

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्‌यौ, इहि धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ ॥ ३ ॥

जगतु जनायौ जिहिँ सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिँ।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाहिँ ॥ ४ ॥

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहिँ न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि ॥ ५ ॥

बंधु भए का दीन के, को तार्‌यौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद कहाइ ॥ ६ ॥

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ ॥ ७ ॥

दियौ, सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिँ न फेरि ॥ ८ ॥

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारनहार ॥ ९ ॥
मकराकृति गोपाल कैं, सोहत कुंडल कान ।
धर्‌यौ मनौ हिय-धर समरु, ड्योढ़ी लसत निसान ॥१०॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिँ कोइ ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥११॥
जपमाला, छापैं, तिलक, सरै न एकौ कामु ।
मन-काँचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥१२॥
घरु घरु, डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचत जाइ ।
दियैं लोभ चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥१३॥
मोहन-मूरति स्याम की; अति अदभुत गति जोइ ।
बसतु सु चित-अंतर तऊ, प्रतिबिंबितु जग होइ ॥१४॥
बड़े न हूजै गुननु बिनु, बिरद - बड़ाई पाइ ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ ॥१५॥
तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति, करि अनुरागु ।
जिहिँ ब्रज-केलि-निकुंज-मग, पग पग होतु प्रयागु ॥१६॥
कीजै चित सोई, तरे जिहिँ, पतितनु के साथ ।
मेरे गुन-औगुन-गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥१७॥
हरि, कीजति बिनती यहै, तुमसौं बार हजार ।
जिहिँ तिहिँ भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥१८॥
गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजारु ।
वहै सदा पसु नरनु कौं, प्रेम-पयोधि पगारु ॥१९॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब, अलि रही गुलाब मैं, अपत कँटीली डार ॥२०॥
मैं तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आएँ यहाँ, पुलकि पसीजै स्यामु ॥२१॥
स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज पराएँ पानि परि, तूँ, पच्छीनु न मारि ॥२२॥
सीस-मुकट, कटि-काछनी, कर-मुरली उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल ॥२३॥
न ए बिससियहि लखि नए, दुर्जन दुसह-सुभाइ।
आँटैं परि प्राननु हरत, काँटैं लौं लगि पाइ ॥२४॥
नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ॥२५॥
बढ़त बढ़त संपति-सलिलु, मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥२६॥
कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैं चढ़ै, अंत नीच कौ नीचु ॥२७॥
गुनी गुनी सबकैं कहै निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक तैं, अरक-समानु उदोतु ॥२८॥
दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि-चंदु ॥२९॥
भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ; भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ, गँवार ॥३०॥

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु ॥३१॥
यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं, कीने पार पयोधि ॥३२॥
अति अगाधु, अति औथरौ, नदी, कूप, सरु, बाइ।
सो ताकौ सागरु जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ ॥३३॥
मोर-मुकुट की चंद्रिकनु, यौं राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस, किय सेखर सत चंद ॥३४॥
अधर धरत हरि कैं परत, ओठ-डीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष रँग होति ॥३५॥
कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं, पातक, राजा, रोग ॥३६॥
जो सिर धरि महिमा महीं, लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता अपनिपै, सु मुकटु पहिरत पाइ ॥३७॥
को कहि सकै बड़ेनु सौं, लखैं बड़ीयौ भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारनु वे फूल ॥३८॥
समै समै सुंदर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥३९॥
या भव-पारावार कौं, उलँघि पार को जाइ।
तिय-छबि-छायाग्राहिनी, ग्रहै बीचहीं आइ ॥४०॥
दिन दस आदरु पाइकै, करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराधपखु, तौ लगि तौ सनमानु ॥४१॥

मरतु प्यास-पिँजरा परयौ, सुआ समै कैँ फेर।
आदरु दै दै बोलियतु, बाइसु बलि की बेर ॥४२॥
इहीँ आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैँ मूल।
ह्वैहैँ फेरि वसंत ऋतु, इन डारिन वे फूल ॥४३॥
वे न इहाँ नागर, बढ़ी, जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गवँई-गाँव गुलाब ॥४४॥
चल्यो जाइ, ह्याँ को करै, हाथिनु के व्यापार।
नहिँ जानतु, इहिँ पुर बसैँ, धोबी, ओड़, कुँभार ॥४५॥
मूड़ चढ़ाऐ ऊ रहै परयौ, पीठि कच-भारु।
रहै गरैँ परि राखिबौ, तऊ हियैँ पर हारु ॥४६॥
इक भीजैँ, चहलैँ परैँ, बूड़ैँ, बहैँ हजार।
किते न औगुन जग करै, वै-नै चढ़ती बार ॥४७॥
जाकैँ एकाएक हूँ, जग ब्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै, आकु डहडहौ होइ ॥४८॥
मीत न नीति गलीतु ह्वै, जौ धरियै धनु जोरि।
खाऐँ खरचैँ जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि ॥४९॥
कहलाने एकत बसत, अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ ॥५०॥
छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौँरत झपत, भौँर-झौँर मधु-अंध ॥५१॥
लटुवा लौं प्रभु-कर-गहैँ, निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी-कर तैँ छुटैँ, निगुनीयै ह्वै जाइ ॥५२॥

लोपे कोपे इंद्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।
गिरिधारी राखे सबै, गो, गोपी, गोपाल ॥५३॥

चितु दै देखि चकोर-त्यौं, तीजैं भजे न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख ॥५४॥

अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नंदकिसोरु ॥५५॥

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चित खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि, गनैं लोग उतपातु ॥५६॥

ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगौ सतर ह्वै गैन।
दीरघ होहिँ न नैंक हूँ, फारि निहारैं नैन ॥५७॥

तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नंदकिसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ, मो करनी की ओर ॥५८॥

मनमोहन सौं मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि।
कुंजबिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥५९॥

किती न गोकुल-कुलबधू, किहिँ न काहि सिख दीन।
कौने तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥६०॥

इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाहिँ।
देखैं बनैं न देखते, अनदेखैं अकुलाहिँ ॥६१॥

को न छल्यौ इहिँ जाल परि; कत, कुरंग, अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ॥६२॥

चिरजीवौ जोरी, जुरै, क्यौं न सनेह गँभीर ।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर ॥६३॥
ज्यौं ह्वैहौ, त्यौं होउँगौ, हौं हरि, अपनी चाल ।
हठु न करौ, अति कठिनु है, मो तारिबौ, गोपाल ॥६४॥

(विहारी-सतसई)

पद्माकर भट्ट

गंगा-स्तव

कूरम पै कोल कोलहूँ पै शेष कुंडली है,
कुंडली पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै पदमाकर त्यौं फनन फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थित रजत-पहार की॥
रजत-पहार पर शंभु सुरनायक हैं,
शंभु पर ज्योति जटा जूट है अपार की।
शंभु जटा जूटन पै चंद की छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंगधार की॥ १॥

करम को मूल तन तन मूल जीव जग,
जीवन को मूल अति आनँद ही धरिबो।
कहै पदमाकर त्यों आनँद को मूल राज,
राजमूल केवल प्रजा को भौन भरिबो॥
प्रजामूल अन्न सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक यज्ञ अनुसरिबो।
यज्ञन को मूल धन धनमूल धर्म अरु,
धर्ममूल गंगा-जल-बिंदु पान करिबो॥ २॥

गंगा के चरित्र लखि भाख्यौ यमराज यह,
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकम मैं कान दै।

कहै पदमाकर नरक सब मूँदि कर,
मूँदि दरवाजन को तजि यह थान दै ॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव याते,
दूतन बुलाइकै बिदा कै वेगि पान दै।
फारि डारु फरद न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खत जान दै वही को वहि जान दै ॥ ३ ॥
जैसे तै न मोको कहूँ नेकहूँ डरात हुतो,
ऐसे अब तोसो हौंहुँ नेकहूँ न डरिहौं।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तो,
उमँड़ि करि तोसो भुजदंड ठोकि लरिहौं ॥
चलो चलु चलो चलु बिचलु न बीच हीं ते,
कीच बीच नीच तौ कुटुंब को कचरिहौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहिं,
गंगा की कछार मो पछारि छार करिहौं ॥ ४ ॥
विधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्धि यही,
हरिपद पंकज प्रताप की ठहर है।
कहै पदमाकर गिरीश शीश मंडल के,
मुंडन की माल ततकाल अघहर है ॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुण्य पथ,
जह्नु जप योग फल फैल की फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर यमजाल को जहर है ॥५॥

हैां ताे पंचभूत तजिबे को तक्यो ताेहिं पर,
ते तैा कर्‌यौ मोहि भलो भूतन को पति है ।
कहै पदमाकर सु एक तन तारिबे में,
कीन्हे तन ग्यारह कहैा सो कौनि गति है ॥
मेरे भाग यही लिखी भगीरथी गंगे तुम्हैं,
कहियो कछुक तैा कितेक मेरी मति है ।
एक भव शूल आयो मेटिबे को तेरे कूल,
तोहि तैा त्रिशूल देत बार ना लगति है ॥ ६ ॥
योग जप जागै छाड़ु जाहु न परागै भैया,
मेरी कही आँखिन के आगे सु तैा आवैगी ।
कहै पदमाकर न ऐहैं काम सरस्वती,
साँचहूँ कलिंदी कान करन न पावैगी ॥
लैहै छीन अंबर दिगंबर कै जोरावरी,
बैल पै चढ़ाइ फेरि शैल पै चढ़ावैगी ।
मुंडन के माल की भुजंगन के जाल की,
सुगंगा गज खाल की खिलत पहरावैगी ॥ ७ ॥
कलि के कलंकी क्रूर कुटिल कुराही केते,
तरिगे तुरंत तवै लीन्हीं रेणु राह जब ।
कहै पदमाकर प्रयाग बिनु पावै सिद्धि,
मानत न कोऊ यम-दूतन की दाह़ दब ॥
कागद करम करतूति के उठाइ धरे,
पचि पचि पेंच में परे हैं प्रेत-नाह अब ।

बेपरद बेदरद गजब गुनाहिन के,
गंगा की गरद कीन्हें गरद गुनाह सब ॥ ८ ॥

रेणुका की रासन में कीच कुश कासन में,
निकट निवासन में आसन लदाऊ के ।
कहै पदमाकर तहाईं मंजु मूरन में,
धौरी धौरी धूरन में पूरन प्रभाऊ के ॥
पारन में वारन में देखहु दरारन में,
नाचति है मुकुति अधीन सब काऊ के ।
कूल औ कछारन में गंगा जल धारन में,
संबुक सेवारन में झारन में झाऊ के ॥ ९ ॥

एक महा पातकी सुगात की दशा विलोकि,
देत यों उराहनो सु आठहूँ पहर है ।
मीच समय तेरे उत आय गए कंठ इत,
व्यापि गयो कंठ कालकूट सौं जहर है ॥
आय चढ़ी सीस मोहि दीन्हीं बकसीस औ,
हजार सीसवारे की लगाई अटहर है ।
मोहि करि नंगा अंग अंगन भुजंगा बाँध्यो,
एरी मेरी गंगा तेरी अद्‌भुत लहर है ॥१०॥

लाइ भूमि-लोक में जसूस जबरई जाइ,
जाहिर खबर करी पापिन के मित्र की ।
कहै पदमाकर विलोकि यम कही कै,
विचारौ तौ करमगति ऐसे अपवित्र की ॥

जौ लौं लगे कागद बिचारन कछुक तौ लौं,
ताके कान परी धुनि गंगा के चरित्र की।
वाके सीस ही ते ऐसी गंगधार बही जामें,
बही बही फिरी बही चित्र औ गुपित्र की ॥११॥

आस करि आयो हुतो मैया पास रावरे मैं,
गाठहू के पास दुख दुरि चुटि चुटि गे।
कहै पदमाकर कुरोग से सँघाती तेऊ,
गैल में चलत घूमि घूमि घुटि घुटि गे॥
दगादार दोष दीह दरिद बिलाय गए,
फिकिर के फंद बिनु, छोरे छुटि छुटि गे।
जौ लौं जाउँ जाउँ तेरे तीर पर गंगा, तौ लौं
बीचही में मेरे पापपुंज लुटि लुटि गे॥ १२॥
(गंगालहरी)

नरोत्तमदास

सुदामा-चरित

कही सुदामा एक दिन, 'कृस्न हमारे मित्र'।
करति रहति उपदेस तिय, ऐसो परम-विचित्र ॥
"महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कैरव-चंद।
ते दारिद-संताप तें, रहैं न किमि निरद्वंद" ॥ १ ॥

"सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय! ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत, संपति की तिनके नहिं इच्छा ॥
मेरे हिए हरि के पद-पंकज बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिय बावरि बाँभन को धन केवल भिच्छा" ॥२॥

"दानी बड़े तिहुँ लोकन में जग जीवत नाम सदा जिनको लै।
दीनन की सुधि लेत भली विधि सिद्धि करौ पिय मेरो मतो लै ॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्री जदुनाथ से जाके हितू सो तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै" ॥३॥

"छत्रिन के पन जुद्ध, जुवा, दल साजि चढ़ैं गज-बाजिन हीं।
बैस को बानिज और कृषी, पन सूद्र को सेवन-साजन हीं ॥
बिप्रन को प्रन है जु यही सुख संपति सों कछु काज नहीं।
कै पढ़िबो कै तपोधन है कन माँगत बाँभनै लाज नहीं" ॥४॥

"कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।
सीत बितीतत जौ सिसियात, तो हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती ॥

जो जनती न हितू हरि सों तो, मैं काहे को द्वारिकै पेलि पठौती।
या घर तें न गयो कबहूँ पिय ! टूटो तवा अरु फूटी कठौती"॥५॥
"प्रीति मैं चूक न है उनके हरि, मो मिलिहैं उठि कंठ लगायकै।
द्वार गए कछु देहैं भलो हमैं, द्वारिकानाथजू हैं सब लायकै॥
या बिधि बीति गए पन द्वै, अब तो पहुँचो बिरधापन आयकै।
जीवन केतो है जाके लिये हरिसों, अब होहुँ कनावड़ो जायकै"॥६॥
"हूजै कनावड़ो बार हजार लौं, जौ हितू दीनदयाल सो पाइए।
तीनहुँ लोक के ठाकुर हैं, तिनके दरबार न जात लजाइए॥
मेरी कही जिय मैं धरिकै पिय ! और न भूलि प्रसंग चलाइए।
और के द्वार सो काज कहा पिय ! द्वारिकानाथ को द्वारे सिधाइए"।७।
"द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू, आठहु जाम यहै जक तेरे।
जो न कहो करिए तो बड़ो दुख, जैए कहाँ अपनी गति हेरे॥
द्वार खड़े प्रभु के छड़िया तहँ, भूपति जान न पावत नेरे।
पाँच सुपारी तैं देखु बिचारि कै, भेंट को चारि न चाउर मेरे"॥८॥

यह सुनिकै तब ब्राह्मनी, गई परोसिनि पास।
पाव-सेर चाउर लिए, आई सहित हुलास॥
सिद्धि करी गनपति सुमिरि, बाँधि दुपटिया-खूँट।
माँगत खात चले तहाँ, मारग बाली बूट॥ ९॥

दीठि चकचौंधि गई देखत सुवर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं।
पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात,
देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं॥

देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पाय,
"कृपा करि कहौ विप्र कहाँ कीन्हो गौन है" ?
"धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
बताओ बलवीर के महल यहाँ कौन है" ॥१०॥

"सीस पगा न झगा तन में प्रभु! जानै को आहि! बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानह को नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल देखि रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा" ॥११॥

बोल्यो द्वारपालक "सुदामा नाम पाँड़े" सुनि,
छाँड़े राज-काज ऐसे जी की गति जानै को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख सानै को ?
नैन दोऊ जल भरि पूँछत कुशल हरि,
विप्र बोल्यो "विपदा में मोहिँ पहिचानै को ?
जैसी तुम कीन्ही तैसी करै को कृपा के सिंधु !
ऐसी प्रीति दीनबंधु! दीनन सों मानै को" ॥१२॥

ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग कंटक-जाल लगे पुनि जोए।
"हाय! महादुख पायो सखा! तुम आए इतै न किते दिन खोए" ॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिँ नैनन के जल सों पग धोए ॥१३॥

"आगे चना गुरु-मातु दए ते लए तुम चाबि हमैं नहिं दीने"।
स्याम कह्यो मुसकाय सुदामा सों "चोरी कि बानि में हौ जू प्रवीने ॥

पोटरी काँख मैं चापि रहे तुम खोलत नाहिँ सुधारस भीने।
पाछिली बानि अजौं न तजी तुम तैसेई भाभी के तंदुल कीने"॥१४॥
हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै "नाथ कहा तुमनै चित धारी।
तंदुल खाय मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी॥
खाइ मुठी तिसरी अब नाथ! कहाँ निज बास की आस बिचारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी"॥१५॥
धन्य कहा कहिए द्विज तू तुम सों जग कौन उदार प्रवीनो।
पाछिली प्रीति निबाहि भली बिधि दोष निवारिकै रोष न कीनो॥
हौं द्विज के चरनोदक हेतु अजन्म कहाय कै जन्म सु लीनो।
आवन कै निज पाँवन सों यहाँ मों सो अपावन पावन कीनो॥१६॥

वह पुलकनि वह उठि मिलनि, वह आदर की भाँति।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जाति॥
घर घर कर ओड़त फिरे, तनक दही के काज।
कहा भयो जो अब भयो, हरि को राज-समाज॥
इमि सोचत सोचत झखत, आयो निज पुर तीर।
दीठि परी इकबार ही हय गयंद की भीर॥
हरि-दरसन तें दूरि दुख भयो, गयो निज देस।
गौतम रिषि को नाउँ लै, कीन्हो नगर-प्रवेस॥१७॥

वैसई राज-समाज वेई गज़ बाजि घने मन संभ्रम छायो।
कैधों परयो कहुँ मारग भूलिकै कै अब फेरि हौं द्वारिकै आयो॥
भौन बिलोकिबे को मग लोचन सोंचत ही सब गाँव मझायो।
पूछि भे पाँड़े कथा सब सों फिरि झोपरि को कहुँ सोधु न पायो॥१८॥

फूटी एक थारी विन टोटनी की झारी हुती,
 बाँस की पिटारी औ कँथारी हुती टाट की।
बेंटे विन छुरी औ कमंडलु सौ टूक वहौ,
 फटे हुते पावौ पाटी टूटी एक खाट की॥
पथरौटा, काठ को कठौता कहूँ दीसै नाहिं,
 पीतर को लोटो हो, कटोरो हो न वाटकी।
कामरी फटी सी हुती डोंड़न की माला ताक,
 गोमती की माटी कीन शुद्ध कहूँ माटकी॥१९॥
चौतरा उजारि कोऊ चामीकर धाम कियो,
 छानी तौ उपारि डारी छाई चित्रसारी जू।
जो हौं होतो घर तो पै काहे को उठन देतो,
 होनहार ऐसी, खोटी दसाई हमारी जू॥
हौं तो हो न, काहू लोभ लाहु को दिखाय वाहि,
 महल उठाय लयो हाय! सुखागारी जू।
लामी लूमवारी दुःख भूख को दलनहारी,
 गैया वनवारी काहू सोऊ मारि डारी जू॥२०॥
कही बाँभनी आय कै, "यहै कंत निज गेह।
श्रीजदुपति तिहुँ लोक मैं कीन्हो प्रगट सनेह" ॥२१॥

हरिश्चंद्र

(१) पद

भरोसो रीझन ही लखि भारी ।
हमहूँ को विश्वास होत है मोहन पतित उधारी ॥
जो ऐसो सुभाव नहिं होतो क्यों अहीर कुल भायो ।
तजि कै कौस्तुभ सो मनि गल क्यों गुंजा-हार धरायो ॥
क्रीट मुकुट सिर छोड़ि पखैाआ मोरन को क्यों धारयो ।
फेट कसी टेंटिन पै मेवन की क्यों स्वाद बिसारयो ॥
ऐसी उलटी रीझ देखिकै उपजत है जिय आस ।
जगनिंदित हरिचंदहु को अपनावहिंगे करि दास ॥ १ ॥

रहै क्यों एक म्यान असि दोय ।
जिन नैनन में हरि रस छायो तेहि क्यों भावै कोय ॥
जा तन मन में रमि रहे मोहन तहाँ ज्ञान क्यों आवै ।
चाहो जितनी बात प्रबोधो ह्याँ को जो पतियावै ॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन को मूरख जो भूलै ।
हरीचंद ब्रज तो कदलीवन काटैा तो फिरि फूलै ॥ २ ॥

(२) नारद की वीणा

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ।
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ॥

कटि मृगपति को चरम चरन मैं घुँघरू धारत।
नारायण गोविंद कृष्ण यह नाम उचारत॥
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत।
जग अघ छिन मैं हरि कहि हरत जेहि सुनि नर भवजल तरत॥
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मनभाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहैं॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन-गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हूँ अघट॥
मनु तीरथ-मय कृष्णचरित की काँवरि लीने।
कै भूगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने॥
जग-बुधि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई॥
मनु गावन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई।
कै राग-सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लई॥
ब्रह्म-जीव, निरगुन-सगुन, द्वैताद्वैत विचार।
नित्य-अनित्य विवाद के, द्वै तूँबा निरधार॥
जो इक तूँबा लै कढ़ै, सो बैरागी होय।
क्यों नहिं ये सबसों बढ़ैं लै तूँबा कर दोय॥

(भारतेंदु-नाटकावली)

श्रीधर पाठक

(१) भ्रमराष्टक

जब बीतिहै राति प्रभात समै, रवि की किरनें तम कौं हरिहैं ।
खिलिहैं दल उत्पल के, तबही खुलिहै मम बंध, कली झरिहैं ॥
इमि सोचत हो अलि पंकज में समझ्यौ नहिं दैव कहा करिहैं ।
मद-माते मतंग ने तोर्‍यो सनाल सरोरुह; षट्पद सो मरिहैं॥१॥
प्रिय जो अलि काननचारि सदा, सुख वास विलास चह्यौ ही करै।
मधु गंध पै जो मतवारौ रहै, रस पाग्यो पराग लह्यौ ही करै॥
कल चंपक चारु चमेलिन की, कुल केलि कला में रह्यौ ही करै॥
विधि के बस आय विदेस पर्‍यो, नित झाँखर चोट सह्यौ ही करै॥२॥
मानसरोवर के तट पै जब सीरौ सुमंद समीर बहै हो ।
उज्जल सौ जल कौ तल, तापै कमोदन कौ कुनबा उलहै हो ॥
उत्पल के दल छाए तहाँ, अति कोमल नाल मृनाल डहै हो ।
ते दिन बीति गए, अलि कौ कलियान सों प्रेम अलाप रहै हो ॥३॥
पंकजवृंद विसैं परभात, सुहातौ सौ बात वहै मद सान्यौ ।
देख्यौ तहाँ नव उत्पल के ढिग, मातौ सौ भौंरा रह्यौ मड़रान्यौ ॥
जाय मृनालिनि पै जबहीं अलि ब्यारि सों तासौं रहै बिलगान्यौ ।
राति कमोदिनि संग रम्यौ तिहि कोपि मनौ नलिनी अपमान्यौ॥४॥
ए अलि स्यामता तो में घनी, छबि सों कटि पै पट पीत बिराजै ।
बाल लता बनवारी नई, तिनके ढिग तू छिन पै छिन भाजै ॥

प्यारी सी गुंज सों कुंजन में बनवारी की बाँसुरी की धुनि लाजै।
स्याम भए ब्रज वारिन कौ, द्रुम नारिन माँहि तू स्याम सो राजै ॥५॥
कछु केतिक काठ कठोर महा, तिन काटि अनेकन छेद करै।
अवनी तल खोदत रंध्र कितेक, सुभावहि सों जदि काम परै॥
नर कौ कर पर्स भएं निज अंग, भुजंग की भाँति, डसै न डरै।
सोइ भृंग मृनालिनि अंक फस्यौ, तजि सर्वस मूरखता सों मरै ॥६॥
मालति मंद सुगंध भई, मकरंद पराग कौ लेस न पाइए।
त्यौं नव पैाधा गुलाबन के, तिनमें सब काँटे ही काँटे लखाइए॥
बेला जुही की मुही भइ बंद, गयंद के गात न दान दिखाइए।
ओखौ समै अब आय परयौ अलि ये दिन धीरजता सों बिताइए॥७॥
सूखे जरे बिरवा पुनिहूँ, हरिजू के प्रताप सबै हरिऐहैं।
मालती चारु चमेली, गुलाब की, सौरभ फेरि समीर समैहैं॥
ते नलिनी अरबिंद के बृंद, सरोवर वारि में सोभा सजैहैं।
कीजै न सोच कछू अलि रावरे, बीते दिना सुख के पुनि ऐहैं ॥८॥

(९) काश्मीर-सुषमा

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥
विमल-अंबु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति॥
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी॥

विहरति विविध-विलास-भरी जोबन के मद सनि।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि ठनि ॥
मधुर मंजु छबि पुंज छटा छिरकति बन-कुंजन।
चितवति, रिझवति, हँसति, डसति, मुसिक्याति, हरति मन॥१॥
यह सुरूप सिंगार रूप धरि धरि बहु भाँतिन।
सर, सरिता, गिरि, सिखर, गगन, गह्वर, तरुवर तृन ॥
पूरन करिबे काज कामना अपने मन की।
किंकरता करि रह्यो प्रकृति-पंकज-चरनन की ॥
चहुँ दिसि हिम गिरि-सिखर, हीर-मनि मौलि-अवलि मनु।
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चंद्रहार जनु ॥
फल फूलन छबि छटा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि-उदर सों, निधि रतनन की ॥
तुहिन-सिखर, सरिता, सर विपिनन की मिलि सो छबि।
छई मंडलाकार, रही चारहुँ दिसि यों फबि ॥
मानहु मनिमय मौलि-माल-आकृति अलबेली।
बाँधी बिधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली ॥
अर्द्ध चंद्र सम सिखर-स्रैनि कहुँ यों छबि छाई।
मानहुँ चंदन-धौरि, गौरि-गुरु, खौरि लगाई ॥
पुनि तिन स्रैननि बीच वितस्ता रेख जु राजति।
वैष्णव "श्री" अरु शिव-त्रिशूल की आभा भ्राजति ॥२॥
हिम स्रैनिन सों घिर्‌यो अद्रि-मंडल यह रूरौ।
सोहत द्रोनाकार सृष्टि-सुखमा-सुख-पूरौ ॥

वहु विधि दृश्य अदृश्य कला-कौशल सों छायौ ।
रत्नन निधि नैसर्ग मनहुँ विधि दुर्ग बनायौ ॥
अथवा विमल वटोर विश्व की निखिल निकाई ।
गुप्त राखिवे काज सुदृढ़ संदूक बनाई ॥
कै यह जादू भरी विश्व वाजीगर थैली ।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली ॥
पुरुष प्रकृति कौं किधौं जबै जोवन-रस आयौ ।
प्रेम-केलि रस-रेलि करन रँग-महल सजायौ ॥
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी ।
खुली धरी कैं भरी तासु सिंगार-पिटारी ॥
कै यह विकसित ब्रह्म-वाटिका की कोउ क्यारी ।
योगिराज ने यहाँ योग-वल ऐंचि उतारी ॥
कै सामग्री सहित भैरवी चक्र मझारी ।
परिकल्पित करि धरी शक्ति पूजन की थारी ॥
किधौं चढ़ायौ धाता ने भारत के मस्तक ।
मायामालिनि-रच्यो चारु कुसुमन कौ गुच्छक ॥
काम-धेनु कै रवि-हय की खुर-छाप सलौनी ।
कै वसुधा पै सुधा-धार-ब्रह्मद्रव-द्रौनी ॥ ३ ॥
परमपुरुष की पटरानी माया कौ स्यंदन ।
मंडप छत्र उतारि धर्‌यौ, उतर्‌यौ कै नंदन ॥
कै जब लै शिव चले दत्ततनया के अंगन ।
गिरि-शृंगन गिरि खिल्यौ प्रिया के कर कौ कंगन ॥

विष्णु-नाभि तें उग्यौ सुन्यौ जो कमल सहसदल ।
कै यह सोई सुभग स्वयंभू कौ सुजन्म-थल ॥
प्रकृति-नटी कौ पटी-रहित प्रगट्यौ नाटक-घर ।
कै शिव-तंत्र सटीक खुल्यौ विलसत टिखटी पर ॥
कै त्रैलोक्य-विभूति-भरित अवधूत-कमंडल ।
कै तप-पुंज-प्रसूत विश्व-शोभा-श्री-मंडल ॥ ४ ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

(१) वर्षा-वर्णन

सरस-सुंदर-सावन-मास था,
घन-घटा नभ थी घिर-घूमती।
बिलसती बहुधा जिसमें रही,
छविवती-उड़ती-बक-पंगती ॥ १ ॥

घहरता गिरि-सानु समीप था,
बरसता छिति-छू नव-वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले,
वियत में रचता बहु चित्र था ॥ २ ॥

नव-प्रभा परमोज्ज्वल-लीक सी,
गति-मती कुटिला-फणिनी-समा।
दमकती दुरती घन-अंक थी,
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी ॥ ३ ॥

विविध रूप धरे नभ में कभी,
बिहरता वर-वारिद-व्यूह था।
बरसता बहु-पावन वारि था,
वह कभी सरसा करके रसा ॥ ४ ॥

सलिल-पूरित थी सरसी हुई,
उमड़ते पड़ते सर-वृंद थे।

कर सु-प्लावित कूल-समस्त को,
सरित थी स-प्रमोद-प्रवाहिता ॥ ५ ॥
अवनि के तल थी अति-शोभिता,
नवल कोमल-श्याम-तृणावली ।
नयन-रंजन थी करती महा,
अनुपमा तरु-राजि-हरीतिमा ॥ ६ ॥
हिल, लगे मृदु मंद-समीर के,
सलिल-बिंदु गिरा सुठि अंक से ।
महि न थे किसका मन मोहते,
जल-धुले दल पादप-पुंज के ॥ ७ ॥
विपुल मोर लिए बहु मोरिनी,
बिहरते सुख से स-विनोद थे ।
जटित-नीलम-पुच्छ - प्रभाव से,
मणि-मयी करके वन-मेदिनी ॥ ८ ॥
बन प्रमत्त-समान पपीहरा,
कथन था करता मुख पी कहाँ ।
लखि वसंत - विमोहनि - मंजुता,
पिक सदा उठता वन कूक था ॥ ६ ॥
सरव पावस - भूप-प्रताप जो,
सलिल में कहते बहु भेक थे ।
विपुल झींगुर तो थल में उसे,
धुन लगा करते नित गान थे ॥ १० ॥

सुखद - पावस के प्रति सर्व की,
प्रगट सी करती अति-प्रीति थीं।
वसुमती - अनुराग - स्वरूपिणी,
विलसती वहु वीर-वधूटियाँ ॥ ११ ॥

परम म्लान हुई वहु वेलि को,
निरख के फलिता अति-पुष्पिता।
सकल के उर अंकित थी हुई,
सुखद शासन की उपकारिता ॥ १२ ॥

विविध-आकृति औ फल फूल की,
उपजतीं अवलोक सु-वूटियाँ।
प्रगट थी महि-मंडल हो रही,
प्रियकरी प्रतिपत्ति पयोद की ॥ १३ ॥

रस-मयी लख वस्तु असंख्य को,
सरसता लख भूतल-व्यापिनी।
समझ था पड़ता बरसात में,
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥ १४ ॥

मृतक-प्राय हुई तृण-राजि भी,
सलिल से फिर जीवित हो गई।
फिर सु-जीवन जीवन को मिला,
वुध न जीवन क्यों उसको कहें ॥ १५ ॥

व्रज-धरा यक वार इन्हीं दिनों,
पतित थी दुख-वारिधि में हुई।

पर उसे अवलंबन था मिला,
　　　ब्रज-विभूषण के भुज-पोत का ॥ १६ ॥
दिवस एक प्रभंजन का हुआ,
　　　अति-प्रकोप घटा नभ छा गई।
बहु-भयावनि-गाढ़-मसी-समा,
　　　सकल-लोक-प्रकंपित-कारिणी ॥ १७ ॥
अशनि-पात समान दिगंत में,
　　　रव विभीषण हो उठने लगा।
कर विदारण वायु पुनः पुनः,
　　　दमकने नभ दामिनि भी लगी ॥ १८ ॥
मथित चालित ताड़ित हो महा,
　　　अति प्रचंड-प्रभंजन-पुंज से।
जलद थे दल के दल आ रहे,
　　　घुमड़ते घिरते ब्रज घेरते ॥ १९ ॥
तरल-तोयधि-तुंग-तरंग लौं,
　　　निबिड़ नीरद थे नभ घूमते।
प्रबल हो जिसकी बढ़ती रही,
　　　असितता-घनता-रवकारिता ॥ २० ॥

(प्रिय-प्रवास)

(२) भेद की बातें

है उसी एक की झलक सब में,
हम किसे कान कर खड़ा देखें।

तो गड़ेगा न आँख में कोई,
हम अगर दीठि को गड़ा देखें ॥ १ ॥

एक ही सुर सब सुरों में है रमा,
सोचिए कहिए कहाँ वह दो रहा।
हर घड़ी हर अवसरों पर हर जगह,
हरिगुनों का गान ही है हो रहा ॥ २ ॥

पेड़ का हर एक पत्ता हर घड़ी,
है नहीं न्यारा हरापन पा रहा।
गुन सको गुन लो सुनो जो सुन सको,
है किसी गुनमान का गुन गा रहा ॥ ३ ॥

हरिगुनों को ए सुबह हैं गा रही,
सुन हुईं वे मस्त कर अठखेलियाँ।
चहचहाती हैं न चिड़ियाँ चाव से,
लहलहाती हैं न उलही बेलियाँ ॥ ४ ॥

छा गया हर एक पत्ते पर समा,
पेड़ सबने सिर दिया अपना नवा।
खिल उठे सब फूल, चिड़ियाँ गा उठीं,
वह गई कहती हुई हर हर हवा ॥ ५ ॥

है नदी दिन-रात कल कल वह रही,
बाँध धुन झरने सभी हैं झर रहे।
हर कलेजे में अजब लहरें उठा,
हरिगुनों का गान ए हैं कर रहे ॥ ६ ॥

दूध छाती में भरा, भर बह चला,
आँख बालक ओर मा की जब फिरी।
गंगधारा शंभु के शिर से बही,
दूध की धारा किसी गिरि से गिरी ॥ ७ ॥

एक मा में कमाल ऐसा है,
कुंभ को कर दिया कमल जिसने।
रस भरे फल हमें कहाँ न मिले,
फल दिए दूध से भरे किसने ॥ ८ ॥

किस तरह मा के कमालों को कहें,
छू उसे हित-पेड़ रहता है हरा।
है पनपता प्यार तन की छाँह में,
दूध से है छेद छाती का भरा ॥ ९ ॥

देखकर अपने लड़ैते लाल को,
कब नहीं मुखड़ा रहा मा का खिला।
प्यार से छाती उछलती ही रही,
दूध छाती में छलकता ही मिला ॥ १० ॥

कौन बेले पर नहीं बनता हितू
भाव अलबेले कहाँ ऐसे मिले।
एक मा के दिल सिवा है कौन दिल,
जाय जो छिल, पूत का तलवा छिले ॥ ११ ॥

चाहिए था कि गुन भरे के गुन,
भाव में ठीक ठीक भर जाते।

पा सके जो न एक गुन भी तो,
क्या रहे बार बार गुन गाते ॥ १२ ॥
क्या हुआ मुँह से सदा हरि हरि कहे,
दूसरों का दुख न जब हरते रहे ।
जब दयावाले बने न दया दिखा,
तब दया का गान क्या करते रहे ॥ १३ ॥
उठ दुई का सका कहाँ परदा,
भेद जब तक न भेद का जाना ।
एक ही आँख से सदा सबको,
कब नहीं देखता रहा काना ॥ १४ ॥
तह बतह जो कीच है जमती गई,
कीच से कोई उसे कैसे छिले ।
तब भला किस भाँत अंधापन टले,
जब किसी अंधे को अंधा ही मिले ॥ १५ ॥
भूल से बचकर भुलावों में फँसी,
काम धंधा छोड़ सतधंधी रही ।
सूझ सकता है मगर सूझा नहीं,
बावली दुनिया न कब अंधी रही ॥ १६ ॥
साँस पाते जब बुराई से नहीं,
लाभ क्या तब साँस की साँसत किए ।
जब दबाए से नहीं मन ही दबा,
नाक को तब हैं दबाते किस लिये ॥ १७ ॥

उन लयों लहरों सुरों के साथ भर,
रस अछूते प्रेम का जिनसे बहे ।
कंठ की घंटी बजी जिनकी न वे,
कंठ में क्या बाँधते ठाकुर रहे ॥ १८ ॥

रंग में जो प्रेम के डूबे नहीं,
जो न पर-हित की तरंगों में बहे ।
किस लिये हरिनाम तो सह साँसतें,
कंठ भर जल में खड़े जपते रहे ॥ १९ ॥

मानता जो मन मनाने से रहे,
लौ लगी हरि से रहे जो हर घड़ी ।
तो रहे चाहे कोई कंठा पड़ा,
कंठ में चाहे रहे कंठी पड़ी ॥ २० ॥

जान जब तक सका नहीं तब तक,
था बना जीव बैल तेली का ।
जब सका जान तब जगत सारा,
हो गया आँवला हथेली का ॥ २१ ॥

डूबने हम आप जब दुख में लगे,
सूझ पाया तब गया क्यों दुख दिया ।
जान गहराई गुनाहों की सके,
काम जब गहरी निगाहों से लिया ॥२२॥

(चोखे चौपदे)

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

भगीरथ की वर-प्राप्ति

जाइ गोकरन-धाम नृपति अति आनँद पायौ ।
मनु गज तोरि अलान उमगि कदली-बन आयौ ॥
सिद्धि-छेत्र सुभ देखि नेत्र तहँ ललकि लुभाए ।
मनहु सोधि मनि-खानि-सोध सोधी हुलसाए ॥ १ ॥
तरु बल्ली बहु भाँति फलित प्रफुलित तहँ भावैं ।
मनहु कामना सफल होन के सगुन दिखावैं ॥
सर सरिता सब स्वच्छ जथा-इच्छित जल पावत ।
मनु मन-आसय पूर होन के जोग जतावत ॥ २ ॥
गुंजत मंजु मलिंद-पुंज मकरंद अघाए ।
मनहु मुदित मन करत तोष के घोष सुहाए ॥
पसु-पच्छिन के बृंद करत आनंद-नाद कल ।
धन्यबाद मनु देत पाइ बांछित जीवन-फल ॥ ३ ॥
विद्याधर गंधर्व सिद्ध तप-वृद्ध सयाने ।
विचरत तहाँ विनोद-मोद-मंडित मनसाने ॥
मुनि-आस्रम अभिराम ठाम-ठामनि छवि छावैं ।
साधक-गन पैं सिद्धि तहाँ खोजति चलि आवैं ॥ ४ ॥
सो सुभ धाम ललाम देखि भूपति मन मान्यौ ।
तहँ तप-कष्ट उठाय इष्ट-साधन ठिक ठान्यौ ॥

पूजि छेत्रपति पुलकि माँगि आयसु मुनि-गन सौं।
लगे भूपमनि करन कठिन जप तप तन मन सौं॥ ५॥
कंद मूल तिन करि अहार कछु बार बिताए।
कछुक दिवस तृन पात परे पुहुमी चुनि खाए॥
कछु दिन बारि बयारि पान करि कछु दिन टेरे।
इहिँ बिधि कष्ट उठाइ किए व्रत घोर घनेरे॥ ६॥
रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ।
अस्ति नास्ति कैँ बीच गनित-कल्पित रेखा सौ॥
सुर-मुनि-अग्र समग्र देखि तप उग्र सिहाए।
नृपहिँ निवारन-हेत सबनि बहु हेत बुझाए॥ ७॥
रहे ध्यान धर जपत भूप बिधि-मंत्र निरंतर।
भरि जिय यहै उमंग गंग आवैं अवनी पर॥
तरैं सगर के सुवन भुवन मुद मंगल छावै।
डरैं देखि जम-दूत पुरी पुरहूत बसावै॥ ८॥
बीते बरस अनेक टेक जब नैंकु न टारी।
सह्यौ सीस धरि धीर बीर हिम आतप बारी॥
तब ताकैं तप-तेज तपन लाग्यौ महि-मंडल।
उफनि उठ्यौ ब्रह्मंड भभरि भय भर्‌यौ अखंडल॥ ९॥
सुर नर मुनि गंधर्ब जच्छ किन्नर कहलाने।
नभ-जल-थल-चर बिकल सकल थल थल हहलाने॥
जानि पर्‌यौ त्रिपुरारि तमकि तीजौ दृग खोल्यौ।
त्रासनि परी पुकार चारमुख-आसन डोल्यौ॥१०॥

लै सँग देव-समाज काज विसराइ जगत कौ।
उठि आतुर अकुलाइ ल्याइ मन भाय भगत कौ॥
चले प्रसंसत हँसत हंस हाँकत चतुरानन।
पहुँचे आनि तुरंत तपत भूपति जिहिँ कानन॥११॥
कृपा-छलक-छवि नैन वैन गदगद मुख मिलकित।
वर वरदान-उमंग-तरंगनि सौं तन पुलकित॥
मृदुल मनोहर उर-उछाह-कारी स्रमहारी।
सुघर सब्द सौं कलित ललित विधि गिरा उचारी॥१२॥
अहो भूप-कुल-कमल-अमल अति-प्रवल-प्रभाकर।
कियौ कठिन तप जाहि निरखि रवि लगत सुधाकर॥
जाकैं प्रखर प्रभाव पदारथ परम सुलभ सव।
तजि सँकोच जो चहहु लहहु सानँद हमसौं अव॥१३॥
सुनत वैन सुख-दैन भगीरथ नैन उघारे।
विवुधनि-वलित प्रसन्न-वदन विधि निकट निहारे॥
तप-तापैं तन परी सुखद आसा-जल-धारा।
सुधा स्रवन भरि चली उवरि ढरि नैननि द्वारा॥१४॥
सरक्यौ सव दुख-दंद चंद आनन मुद छरक्यौ।
फरक्यौ सुभग सरीर चीर वलकल कौ दरक्यौ॥
जोरि पानि परि भूमि भूमि-पति सिर पद परसे।
सव देवनि सादर प्रनाम करि अति सुख सरसे॥१५॥
पाद अरघ आसन सुमूल फल फूल सुहाए।
अरपि जथा-विधि विनय-वचन कर जोरि सुनाए॥

जय चतुरानन चतुर चतुर-जुग-जगत-विधायक।
जय सुर-नर-मुनि-वंद्य सदा सुंदर-बर-दायक ॥१६॥
तव दरसन सौं आज काज पूजे सब मन के।
लखि यह देव-समाज साज छाए सुख-गन के॥
धर्यौ माथ पर हाथ नाथ तौ देहु यहै बर।
तारन-बिरद-उतंग गंग आवैं पुहुमी पर ॥१७॥
असन वसन बर बाम धाम भव-बिभव न चाहैं।
सुरपुर-सुख बिग्यान मुक्तिहूँ पै न उमाहैं॥
अति उदार करतार जदपि तुम सरबस-दानी।
हम लघु जाचक चहत एक चिल्लू भर पानी ॥१८॥
ताही सौं तप-ताप दूरि करि अंग जुड़ैहैं।
ताही सौं सब साप-दाप पितरनि के जैहैं॥
ताही सौं जग सकल महा मुद मंगल छैहैं।
ताही सौं सुख पाइ लाख अभिलाष परैहैं ॥१९॥
यह सुनि मृदु मुसुकाइ चतुर चतुरानन भाष्यौ।
धन्य धन्य महि-पाल मही-हित पर चित राख्यौ॥
तुम्हैं न कछुहुँ अदेय एक यह असमंजस पर।
गंग-धार कौ बेग धरै किमि धरनि धरा-धर ॥२०॥
धमकि धूम सों धाइ धँसै जवही ब्रह्मद्रव।
उथलपथल तल होइ रसातल मचहि उपद्रव॥
जगत जलाहल होइ कुलाहल त्रिभुवन व्यापै।
ह्वै सनद्ध कटिबद्ध कौन थिरता फिरि थापै ॥२१॥

तातैं कहत उपाय एक अतिसय हित-कारी।
आराधौं तुम आसुतोष संकर त्रिपुरारी॥
सो सब भाँति समर्थ अर्थ-दायक चित-चाहे।
करत न नैंकु विचार चार फल देत उमाहे॥२२॥
विकल सकल जग जोहि छोहि करुना जिन धारी।
निधरक धरि गर गरल सुरासुर-विपति विदारी॥
गर्व खर्व करि सर्व कठिन कालहु दुर्दर कौ।
चिर जीवन थिर कियौ मारकंडे मुनिवर कौ॥२३॥
सोइ इक सकत सँभारि गंग कौ वेग विपुल वर।
करि जु कृपा वर देहिँ लेहिँ यह काज सीस पर॥
सकल मनोरथ होहिँ सिद्ध तब तुरत तिहारे।
यों कहि विधि सब सुरनि सहित निज लोक सिधारे॥२४॥
यह सुनि महा धीर भूपति-मन नैंकु डग्यौ ना।
संसय संका सोक सोच मैं पलहुँ पग्यौ ना॥
वरु वाढ़ी चित चोप ओप आनन पर आई।
अमित उमंग-तरंग अंग अंगनि मैं छाई॥२५॥
अब तो हम सुभ ढंग गंग-आवन कौ पायौ।
पारावार - अपार - परे कौ पार लखायौ॥
यह विचारि निर्धारि हियैं आनँद सरसायौ।
धन्यवाद ह्वै नीर निकरि नैननि तैं आयौ॥२६॥
पुनि लागे तप तपन जपन संकर दुख-भंजन।
वर-दायक करुना-निधान निज-जन-मन-रंजन॥

इक अँगुठा है ठाढ़ गाढ़ व्रत संजम लीने।
सहे बिबिध दुख गहे मौन इक दिसि मन दीने ॥२७॥
खान पान बस किए नींद नारी बिसराए।
और ध्यान सब धोइ देवधुनि की धुनि लाए॥
गयो बीति इहिँ रीति एक संबतसर सारौ।
उठ्यौ गगन लौं गाजि भूप कौ सुजस-नगारौ ॥२८॥
तब तजि अचल समाधि आधि-हर संकर जागे।
निज-जन-दुख मन आनि कसकि करुना सौं पागे॥
आतुर चले उमंग-भरे भंगहु नहिँ छानी।
कृपा-कानि बरदान-देन-हित हिय हुलसानी ॥२९॥
डगमग पग मग धरत तजे बरदहु हरबर सौं।
आए तिहिँ बन सघन बिभूषित जो नरबर सौं॥
देखि भूप कौ कृसित रूप नैननि जल छायौ।
सृंगी-नाद बिषाद-हरन सुख-करन बजायौ ॥३०॥
दृग उघारि त्रिपुरारि निरखि नृप निपट चकाए।
रहे ललकि छबि-छकित पलक बिन पलक गिराए।
सुंदर अमल अनूप भव्य भव-रूप सुहायौ।
मनु तप-तेज-स्वरूप भूप आगैं चलि आयौ ॥३१॥
हेम-बरन सिर जटा चंद-छबि-छटा भाल पर।
कलित कृपा की कटा-घटा लोचन बिसाल पर॥
फनि-पति-हार-बिहार-भूमि बच्छस्थल राजै।
जग-अवलंब प्रलंब भुजनि फरकति छबि छाजै ॥३२॥

दृढ़ कटि-धाम ललाम चाम सुभ दुरद-दवन कौ ।
गूढ़ जानु जो भार भरत सहजहिँ त्रिभुवन कौ ॥
अरुन-कोकनद-चरन सरन जो असरन जन के ।
जिनकौ गुन गुंजार करत मन-अलि मुनिगन के ॥३३॥
गौर सरीर विभूति भूति त्रिभुवन की सोहै ।
आनन परम उदार-प्रकृति-छवि-छलक विमोहै ॥
उमगि कृपा कौ वारि पगनि डगमग उपजावत ।
तकि तकि तांडव नचत दमकि दम डमरु बजावत ॥३४॥
मानि कामना सिद्ध जानि तूठे दुख-हारी ।
भयौ भूप-मन मगन बढ़ेँ आनँद-नद भारी ॥
किं-कर्तव्य-विमूढ़ गूढ़ भायनि भरि भाए ।
रहे थकित से ठंग छनक विन अंग डुलाए ॥३५॥
पुनि कछु धीर बटोरि जोरि कर परे धरनि पर ।
बरुनिनि झारत पाय पखारत नैन-नीर-झर ॥
कंपित गात लखाति प्रेम-पुलकावलि विकसति ।
उमगि कंठ लौं आइ बात हिचकी ह्वै निकसति ॥३६॥
यह करुनामय दृस्य संभु प्रनतारति-हारी ।
सके न देखि विसेषि भक्त-दुख भए दुखारी ॥
नृपहिँ और कछु करन कहन कौ ठौर न दीन्यौ ।
अंतरजामी जानि भाव अंतर कौ लीन्यौ ॥३७॥
भुज उठाइ हरषाइ बाँकुरौ विरद सँभार्‌यौ ।
दियौ विसद वर-राज भूप कौ काज सँवार्‌यौ ॥

हम लैहैं सिर गंग दंग जग होहि जाहि ज्वै।
यौं कहि अंतर्धान भए नृप रहे चकित ह्वै ॥३८॥
उठि महि सौं महिपाल लगे चारौं दिसि हेरन।
कृपा-सिंधु करुना-निधान कहि इत उत टेरन॥
सिव कौ सुखद स्वरूप चखनि भरि चहन न पाए।
मन की मनहीं रही हाय कछु कहन न पाए ॥३९॥
इहिँ गिलानि की आनि घटा आसा धुँधराई।
भयो मंद मुख चंद दंद-उम्मस उमगाई॥
पै गुनि हर के बैन नैन आनँद-रस बरसे।
जप-तप कौ करि बिहित विसर्जन अति सुख सरसे ॥४०॥
इहिँ भाँति भगीरथ भूप बर साधि जोग जप तप प्रखर।
लोन्यौ सिहात जिहिँ लखि अमर मान-सहित चित-चहत बर॥४१॥

(गंगावतरण)

———

जयशंकर 'प्रसाद'

(१) भारत-महिमा

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक-हार ॥
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तव नाश अखिल संसृति हो उठी अशोक॥१॥
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे छिड़ा तव मधुर साम-संगीत ॥
बचाकर बीज रूप से सृष्टि नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुणपथ में हम बढ़े अभीत॥२॥
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास ॥
सिंधु सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह ॥ ३ ॥
धर्म्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद।
हमीं ने दिया शांति-संदेश सुखी होते देकर आनंद ॥
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर घर घूम ॥ ४ ॥
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि॥

किसी का हमने छीना नहीं प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं कहीं से हम आए थे नहीं ॥ ५ ॥
ज़ातियों का उत्थान-पतन आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते प्रलय में पले हुए हम वीर ॥
चरित थे पूत भुजा में शक्ति नम्रता रही सदा संपन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व किसी को देख न सके विपन्न ॥ ६ ॥
हमारे संचय में था दान अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव ॥
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान ॥
जिएँ तो सदा इसी के लिये यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥ ७ ॥

(२) किरण

किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु-पराग ॥
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन ॥ १ ॥
अरुण शिशु के मुख पर सविलास, सुनहली लट घुँघुराली कांत।
नाचती हो जैसे तुम कौन ? उषा के अंचल में अश्रांत ॥
भला उस भोले मुख को छोड़, और चूमोगी किसका भाल।
मनोहर यह कैसा है नृत्य, कौन देता है सम पर ताल ॥ २ ॥

कोकनद मधु धारा सी तरल, विश्व में वहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानंद, उठाकर सुंदर सरस हिलोर ॥
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन, मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा संवंध, वना दोगी क्या विरज विशोक ॥ ३ ॥
सुदिनमणि-वलय-विभूषित उषा-सुंदरी के कर का संकेत !
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ॥
चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनंत ।
सुमन मंदिर के खोलो द्वार, जगे फिर सोया वहाँ वसंत ॥ ४ ॥

(२) खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भीगे हैं सव तार ।
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार ॥
भींग रहा है रजनी का वह, सुंदर कोमल कवरी-भार ।
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार ॥
धूल लगी है पद काँटों से विंधा हुआ है दुःख अपार ।
किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार ॥
डरो न इतना, धूलि-धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार ।
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार ॥
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश ।
मेरे ऐसे छारों से कव, तेरे पद को है अवकाश ॥
पैरों ही से लिपटा लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार ।
अव तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार ॥

सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार।
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो, प्रियतम! खोलो द्वार॥

(४) चित्रकूट

उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे।
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे॥
धीरे धीरे उठे नई आशा से मन में।
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छंद गगन में॥
चित्रकूट भी चित्र लिखा सा देख रहा था।
मंदाकिनी-तरंग उसी से खेल रहा था॥
स्फटिक शिला आसीन राम-वैदेही ऐसे।
निर्मल सर में नील कमल नलिनी हों जैसे॥
निज प्रियतम के संग सुखी थी कानन में भी।
प्रेम भरा था वैदेही के आनन में भी॥
मृगशावक के साथ मृगी भी देख रही थी।
सरल विलोकन जनक-सुता से सीख रही थी॥
निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है, श्रीमान भोगते सुख वन में भी॥
चंद्रातप था व्योम, तारका-रत्न जड़े थे।
स्वच्छ दीप था सोम, प्रजा तरु-पुंज खड़े थे॥
शांत नदी का स्रोत बिछा था अति सुखकारी।
कमल-कली का नृत्य हो रहा था मनहारी॥

बोल उठा जो हंस देखकर कमल-कली को।
तुरत रोकना पड़ा गूँजकर चतुर अली को॥
हिली आम की डाल चला ज्यों नवल हिँडोला।
आह कौन है पंचम स्वर से कोकिल बोला॥
मलयानिल प्रहरी सा फिरता था उस वन में।
शांति शांत हो बैठी थी कामद-कानन में॥
राघव बोले देख जानकी के आनन को—
'स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को?'
'नील मधुप को देख, वहीं उस कंज-कली ने।
स्वयं आगमन किया'—कहा यह जनक-लली ने॥
बोले राघव—'प्रिये भयावह से इस वन में।
शंका होती नहीं तुम्हारे कोमल मन में?'
कहा जानकी ने हँसकर—'उसको है क्या डर?
जिसके पास प्रवीण धनुर्द्धर ऐसा सहचर!'
कहा राम ने—'अहा महल मंदिर मनभावन।
स्मरण न होते तुम्हें कहो क्या वे अति पावन?
रहते थे झनकार-पूर्ण जो तव नूपुर से।
सुरभि-पूर्ण पुर होता था जिस अंतःपुर से'॥
जनक-सुता ने कहा—'नाथ यह क्या कहते हैं?
नारी के सुख सभी साथ 'पति के रहते हैं॥
कहा उसे प्रिय प्राण! अभाव रहा फिर किसका?
विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका॥'

मैथिलीशरण गुप्त

(१) आय का उपयोग

निकल रही है उर से आह;
ताक रहे सब तेरी राह।

चातक खड़ा चोंच खोले है,
संपुट खोले सीप खड़ी;
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ,
अपनी अपनी हमें पड़ी।
सबको है जीवन की चाह;
ताक रहे सब तेरी राह।

मैं कहता हूँ—मैं प्यासा हूँ,
चातक—'पी, पी'—रटता है;
व्यंग्य मानता हूँ मैं उसको,
हृदय क्षोभ से फटता है।
पर क्या वह रखता है डाह ?
ताक रहे सब तेरी राह।

मैं अपनी इच्छा कहता हूँ,
पर वह तुझे बुलाता है;

मुझसे अधिक उदार वही है,
पर भ्रम यहाँ भुलाता है।
किसको है किसकी परवाह !
ताक रहे सब तेरी राह।

हम अपनी अपनी कहते हैं,
किंतु सीप क्या कहती है ?
कुछ भी नहीं, खोलकर भी मुँह,
वह नीरव ही रहती है।
उसके आशय की क्या थाह ?
ताक रहे सब तेरी राह।

घनश्याम, फिर भी तू सबकी,
इच्छा पूरी करता है;
चातक-चंचु, सीप का संपुट,
मेरा घट भी भरता है।
सब पर तेरा दया-प्रवाह;
ताक रहे सब तेरी राह।

तेरे दया-दान का मैंने,
चातक ने भी, भोग किया;
किंतु सीप ने उसको लेकर
क्या अपूर्व उपयोग किया—

बना दिया है मुक्ता, वाह !
ताक रहे सब तेरी राह ।

(२) पर्णकुटी के द्वार पर लक्ष्मण

चारु चंद्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अंबर-तल में ।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी
मंद पवन के झोकों से ॥ १ ॥
पंचवटी की छाया में है
सुंदर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर, वीर, निर्भीकमना,
जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी सा
बना दृष्टिगत होता है ॥ २ ॥
किस व्रत में है व्रती वीर यह
निद्रा का यों त्याग किए ?

राजभोग के योग्य विपिन में
बैठा आज विराग लिए।
बना हुआ है प्रहरी जिसका
उस कुटीर में क्या धन है,
जिसकी रक्षा में रत इसका
तन है, मन है, जीवन है? ॥ ३ ॥

मर्त्यलोक-मालिन्य मेटने
स्वामि-संग जो आई है,
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह
कुटी आज अपनाई है।
वीर-वंश की लाज वही है
फिर क्यों वीर न हो प्रहरी?
विजन देश है, निशा शेष है,
निशाचरी माया ठहरी! ॥ ४ ॥

कोई पास न रहने पर भी
जन-मन मौन नहीं रहता,
आप आपकी सुनता है वह
आप आपसे है कहता।
बीच बीच में इधर उधर निज
दृष्टि डालकर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है
धीर धनुर्धर नई नई ॥ ५ ॥

"क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह
है क्या ही निःस्तब्ध निशा,
है स्वच्छंद सुमंद गंधवह
निरानंद है कौन दिशा ?
बंद नहीं अब भी, चलते हैं
नियति-नटी के कार्य्य-कलाप,
पर कितने एकांत भाव से,
कितने शांत और चुपचाप ! ॥ ६ ॥

है बिखेर देती वसुंधरा
मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको
सदा, सबेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी
संध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम तनु जिससे उसका
नया रूप झलकाता है ! ॥ ७ ॥

तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके,
पर है मानो कल की बात !
वन को आते देख हमें जब
आर्त, अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब
अवधि पूर्ण होगी वन की,

किंतु प्राप्ति होगी इस जन को
इससे बढ़कर किस धन की ? ॥ ८ ॥

और आर्य्य को ? राज्य-भार तो
वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सबको भी
मानो विवश विसारेंगे।
कर विचार लोकोपकार का
हमें न इससे होगा शोक,
पर अपना हित आप नहीं क्या
कर सकता है यह नरलोक ? ॥ ९ ॥

मझली माँ ने क्या समझा था ?
कि मैं राजमाता हूँगी,
निर्वासित कर आर्य राम को
अपनी जड़ें जमा लूँगी !
चित्रकूट में किंतु उसे ही
देख स्वयं करुणा थकती,
उसे देखते थे सब, वह थी
निज को ही न देख सकती ! ॥ १० ॥

अहो ! राजमातृत्व यही था,
हुए भरत भी सब त्यागी,
पर सौ सौ सम्राटों से भी
हैं सचमुच वे बड़भागी।

एक राज्य का मूढ़ जगत ने
कितना महा मूल्य रक्खा,
हमको तो मानो वन में ही
है विश्वानुकूल्य रक्खा! ॥ ११ ॥

होता यदि राजत्वमात्र ही
लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको
छोड़ मार्ग लेते वन का?

परिवर्तन ही यदि उन्नति है
तो हम बढ़ते जाते हैं,
किंतु मुझे तो सीधे-सच्चे,
पूर्व-भाव ही भाते हैं॥ १२ ॥

जो हो, जहाँ आर्य्य रहते हैं
वहीं राज्य वे करते हैं,
उनके शासन में वनचारी
सब स्वच्छंद विहरते हैं।

रखते हैं सयत्न हम पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बंद,
वे पशु-पक्षी भाभी से हैं
हिले यहाँ स्वयमपि सानंद! ॥ १३ ॥

करते हैं हम पतित जनों में
बहुधा पशुता का आरोप,

करता है पशुवर्ग किंतु क्या
निज निसर्ग-नियमों का लोप ?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की
जननी भी कह सकता हूँ,
किंतु पतित को पशु कहना भी
कभी नहीं सह सकता हूँ ॥ १४ ॥

आ आकर विचित्र पशु-पक्षी
यहाँ बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देतीं उनको,
पंचवटी छाया गहरी ।
चारु चपल बालक ज्यों मिलकर,
माँ को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिझाकर भी आर्या को
वे सब यहाँ रिझाते हैं ! ॥ १५ ॥

गोदावरी नदी का तट वह
ताल दे रहा है अब भी,
चंचल जल कल कल कर मानो
तान दे रहा है अब भी !
नाच रहे हैं अब भी पत्ते,
मन से सुमन महकते हैं,
चंद्र और नक्षत्र ललककर
लालच भरे लहकते हैं ॥ १६ ॥

वैतालिक विहंग भाभी के
संप्रति ध्यानलग्न से हैं,
नए गान की रचना में वे
कवि-कुल-तुल्य मग्न से हैं।
बीच बीच में नर्तक केकी
मानो यह कह देता है—
मैं तो प्रस्तुत हूँ, देखें कल
कौन बड़ाई लेता है? ॥ १७ ॥

आँखों के आगे हरियाली
रहती है हर घड़ी यहाँ।
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती
है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक एक हिम-कणिका
जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ सौ नागरिक जनों की
वैसी विमल रम्य रुचि है? ॥ १८ ॥

मुनियों का सत्संग यहाँ है
जिन्हें हुआ है तत्त्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे
नित्य नए अनुपम आख्यान।
जितने कष्ट-कंटकों में है
जिनका जीवन-सुमन खिला,

गौरव-गंध उन्हें उतना ही
अत्र, तत्र, सर्वत्र मिला ॥ १९ ॥

शुभ सिद्धांत-वाक्य पढ़ते हैं
शुक-सारी भी आश्रम के,
मुनि-कन्याएँ यश गाती हैं
क्या ही पुण्य-पराक्रम के।
अहा ! आर्य्य के विपिन-राज्य में
सुख-पूर्वक सब जीते हैं,
सिंह और मृग एक घाट पर
आकर पानी पीते हैं ! ॥ २० ॥

गुह, निषाद, शबरों तक का मन
रखते हैं प्रभु कानन में;
क्या ही सरल वचन रहते हैं
इनके भोले आनन में !
इन्हें समाज नीच कहता है,
पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव हैं
किंतु नहीं वैसी वाणी ॥ २१ ॥

कभी विपिन में हमें व्यजन का
पड़ता नहीं प्रयोजन है,
निर्मल जल, मधु, कंद, मूल, फल—
आयोजनमय भोजन है।

मनःप्रसाद चाहिए केवल,
क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद ?
भाभी का आह्लाद अतुल है,
मझली माँ का विपुल विषाद ! ॥ २२ ॥
अपने पौधों में जब भाभी
भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निराती
जब वे अपनी खेती हैं।
पाती हैं तब कितना गौरव,
कितना सुख, कितना संतोष !
स्वावलंब की एक झलक पर
न्योछावर कुबेर का कोष ॥ २३ ॥
सांसारिकता में मिलती है
यहाँ निराली निःस्पृहता,
अत्रि और अनसूया की सी
होगी कहाँ पुण्य-गृहता ?
मानो है यह भुवन भिन्न ही
कृत्रिमता का काम नहीं,
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी,
कहीं विकृति का नाम नहीं ॥ २४ ॥
स्वजनों की चिंता है हमको
होगा उन्हें हमारा सोच,

यहीं एक इस विपिन-वास में
दोनों ओर रहा संकोच।
सब सह सकता है, परोक्ष ही
कभी नहीं सह सकता प्रेम,
बस, प्रत्यक्ष भाव में उसका
रक्षित सा रहता है क्षेम॥ २५॥

इच्छा होती है, स्वजनों को
एक बार वन ले आऊँ,
और यहाँ की अनुपम महिमा
उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ।
विस्मित होंगे देख आर्य्य को
वे घर की ही भाँति प्रसन्न,
मानो वन-विहार में रत हैं
ये वैसे ही श्रीसंपन्न!॥ २६॥

यदि बाधाएँ हुईं हमें तो
उन बाधाओं के ही साथ,
जिससे बाधा-बोध न हो, वह
सहनशक्ति भी आई हाथ।
जब बाधाएँ न भी रहेंगी
तब भी शक्ति रहेगी यह,
पुर में जाने पर भी वन की
स्मृति अनुरक्ति रहेगी यह॥ २७॥

नहीं जानतीं हाय ! हमारी,
  माताएँ, आमोद-प्रमोद,
मिली हमें है कितनी कोमल,
  कितनी बड़ी प्रकृति की गोद ।
इसी खेल को कहते हैं क्या
  विद्वज्जन जीवन-संग्राम ?
तो इसमें सुनाम कर लेना
  है कितना साधारण काम !" ॥ २८ ॥

(पंचवटी)

राय कृष्णदास

पदस्थ

चाह मुझको है नहीं स्वर्ण बन जाने की।
यद्यपि हूँ जानता कि कंचन हो पाऊँ तो
मौलि का तुम्हारे अलंकार बन जाने की
बात क्या, सरूपता तुम्हारी मिल जायगी;
अहोभाग्य धन्य हो नगण्य यह जन, पै
हाय हिया क्षुद्र इसका तो है सिहरता
कसने के साथ ही कसौटी पैं, कनक की
कांति,—भ्रांति चंचला-छटा की घटा श्याम पै,—
कौंध उठती है जहाँ, हाय वहीं अपना
एक अंग खोके और होके अनुत्तीर्ण भी
पारखी! तुम्हारी उस प्रथम परीक्षा में
पड़ता है पतित तुम्हारे पद में पुन:
इसका निसर्ग-स्थान प्राणनाथ था जहाँ
उठके जहाँ से इस धूलिकण ने प्रभो!
होड़ की थी हाटक की, हाँ हाँ उस हेम की,—
कौन कसे जाने की कहे जो ताप ताड़ना—
छेदनादि को भी खेल में ही झेल लेता है,—

पाया उसका जो स्वाद याद सदा रक्खेगा !
किंतु अब है हुआ पदस्थ, अब तो इसे
कामद पदारविंद का पराग होने दो;
मधुर मरंद से उसी के सदानंद हो ॥

गोपालशरण सिंह

व्रज-वर्णन

आते जो यहाँ हैं व्रज-भूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद मद-माते हैं।
जिस ओर जाते उस ओर मनभाते दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं।
पल भर अपने को वे भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुध-सिंधु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ,
मैया मैया टेरते हैं गैया को चराते हैं ॥ १ ॥

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृंग,
उर कलियों में सदा व्रज-नर-नारी की।
कण कण में है यहाँ व्याप्त दृग सुखकारी,
मंजु मनोहारी मूर्ति मंजुल मुरारी की।
किसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धन-धारी की ?
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म भूमि यही,
जन-मन-हारी वृंदा-विपिन-विहारी की ॥ २ ॥

अंकित व्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम-वल्लियों में और फूल फूल में।

भूमि ही यहाँ की सब काल बतला-सी रही,
ग्वाल-बाल संग वह लोटे इस धूल में।
कल कल रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलिंदजा के कूल में।
ग्राम ग्राम धाम धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किंतु वे छिपे हैं मंजु मानस दुकूल में ॥ ३ ॥

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यहाँ,
रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की।
भूल सकता है कोई व्रज में कभी क्या भला,
निपट निराली छटा चारु बनमाल की।
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई,
मंजु मंद मंद नंद-नंदन की चाल की।
रहती दृगों में छाई उर में समाई सदा,
छवि मनभाई बाल मदन-गोपाल की ॥ ४ ॥

अब भी मुकुंद रहते हैं व्रज-भूमि ही में,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर फेरके।
छिपे उर-कुंज में हैं वृंदावन-वासियों के,
थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर हेरके।
चित्त-वृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनी,
रहती उन्हीं के आस पास घेर घेरके।
आठो याम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम,
मानो हैं बुलाते "श्याम श्याम" टेर टेरके ॥ ५ ॥

उमड़ रहा है प्रेम-पारावार मानस में,
ब्रज-वनिताएँ कैसे बैठी रहें मान में।
किस भाँति आज ब्रजराज से करें वे लाज,
रहता सदैव है समाया वह ध्यान में।
मन में बसी है मूर्त्ति उसी मन-मोहन की,
हिचकें भला वे कैसे रूप-रस-पान में।
मृदु मुरली की तान प्राण में है गूँज रही,
कैसे न सुनेंगी उसे अँगुली दे कान में॥ ६॥

जिसने विपत्तियों से ब्रज को बचाया सदा,
दिव्य बल पौरुष दिखाया बालपन में।
मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश,
सुयश-प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में।
सबको सदैव सिखलाया शुचि विश्व-प्रेम,
गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में।
दुख को हटाया सुख-बेलि को बढ़ाया वह,
श्याम मनभाया है समाया वृंदावन में॥ ७॥

वही मंजु मही वही कलित कलिंदजा है,
ग्राम और धाम भी विशेष छवि-धाम हैं।
वही वृंदावन है निकुंज द्रुम-पुंज भी हैं,
ललित लताएँ लोल लोचनाभिराम हैं।
वही गिरिराज गोपजन का समाज वही,
वही सब साज बाज आज भी ललाम हैं।

व्रज की छटा विलोक आता मन में है यही,
अब भी यहाँ ही शुभ-नाम घनश्याम हैं ॥ ८ ॥

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी की सुध श्याम की दिलाती है।
फूली फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है।
सुयश उन्हीं का शुक सारिका सुनातीं सदा,
कूक कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है।
हरी भरी दृग-सुखदाई मनभाई मंजु,
यह व्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है ॥ ९ ॥

सुखद सजीली सस्य-श्यामला यहाँ की भूमि,
श्याम के ही रंग में रँगी है प्रेम-भाव से।
रज भी पुनीत हुई उनके चरण छूके,
शीश पर उसको चढ़ाते भक्त चाव से।
पाप-पुंज-नाशी उर-कमल-विकासी हुआ,
यमुना-सलिल बस उनके प्रभाव से।
कर दिया पूरा उसे वर वृंदावन ने ही,
जो थी कमी मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से ॥ १० ॥

सियारामशरण गुप्त

एक फूल की चाह

[१]

उद्वेलित कर अश्रु-राशियाँ,
    हृदय-चिताएँ धधकाकर,
महा महामारी प्रचंड हो
    फैल रही थी इधर उधर।
क्षीण-कंठ मृतवत्साओं का
    करुण-रुदन दुर्दान्त नितान्त,
भरे हुए था निज कृश रव में
    हाहाकार अपार अशान्त।
बहुत रोकता था सुखिया को,
    'न जा खेलने को बाहर',
नहीं खेलना रुकता उसका
    नहीं ठहरती वह पल भर।
मेरा हृदय काँप उठता था,
    बाहर गई निहार उसे;
यही मनाता था कि बचा लूँ
    किसी भाँति इस बार उसे।

भीतर जो डर रहा छिपाए,
हाय ! वही बाहर आया।
एक दिवस सुखिया के तनु को
ताप-तप्त मैंने पाया।
ज्वर में विह्वल हो बोली वह,
क्या जानूँ किस डर से डर,—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर !

[२]

बेटी, बतला तो तू मुझको
किसने तुझे बताया यह;
किसके द्वारा, कैसे तूने
भाव अचानक पाया यह ?
मैं अछूत हूँ, मुझे कौन हा !
मंदिर में जाने देगा;
देवी का प्रसाद ही मुझको
कौन यहाँ लाने देगा ?
बार बार, फिर फिर तेरा हठ !
पूरा इसे करूँ कैसे;
किससे कहूँ, कौन बतलावे,
धीरज हाय ! धरूँ कैसे ?

कोमल कुसुम-समान देह हा !
हुई तप्त अंगार-मयी;
प्रति पल बढ़ती ही जाती है
विपुल वेदना, व्यथा नई।
मैंने कई फूल ला लाकर
रक्खे उसकी खटिया पर;
सोचा,—शांत करूँ मैं उसको,
किसी तरह तो बहलाकर।
तोड़-मोड़ वे फूल फेंक सब
बोल उठी वह चिल्लाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर !

[३]

क्रमशः कंठ क्षीण हो आया,
शिथिल हुए अवयव सारे,
बैठा था नव नव उपाय की
चिंता में मैं मन मारे।
जान सका न प्रभात सजग से
हुई अलस कब दोपहरी,
स्वर्ण-घनों में कब रवि डूबा,
कब आई संध्या गहरी।

सभी ओर दिखलाई दी बस,
अंधकार की ही छाया,
छोटी सी बच्ची को ग्रसने
कितना बड़ा तिमिर आया!
ऊपर विस्तृत महाकाश में
जलते से अंगारों से,
झुलसी सी जाती थीं आँखें
जगमग जगते तारों से।
देख रहा था—जो सुस्थिर हो
नहीं बैठती थी क्षण भर,
हाय! वही चुपचाप पड़ी थी
अटल शांति सी धारण कर।
सुनना वही चाहता था मैं
उसे स्वयं ही उकसाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर!

[४]

हे मातः, हे शिवे, अंबिके,
तप्त ताप यह शांत करो;
निरपराध छोटी बच्ची यह,
हाय! न मुझसे इसे हरो!

काली कांति पड़ गई इसकी,
हँसी न जानें गई कहाँ,
अटक रहे हैं प्राण चीणतर
साँसों में ही हाय यहाँ!

अरी निष्ठुरे, वढ़ी हुई ही
है यदि तेरी कृपा नितांत,
तो कर ले तू उसे इसी क्षण
मेरे इस जीवन से शांत!

मैं अछूत हूँ तो क्या मेरी
विनती भी है हाय! अपूत.
उससे भी क्या लग जावेगी
तेरे श्री-मंदिर को छूत?

किसे ज्ञात, मेरी विनती वह
पहुँची अथवा नहीं वहाँ,
उस अपार सागर का दीखा
पार न मुझको कहीं वहाँ।

अरी रात, क्या अक्षयता का
पट्टा लेकर आई तू,
आकर अखिल विश्व के ऊपर
प्रलय-घटा सी छाई तू!

पग भर भी न वढ़ी आगे तू,
डटकर वैठ गई ऐसी,

क्या न अरुण आभा जागेगी,
सहसा आज विकृति कैसी !
युग के युग से बीत गए हैं,
तू ज्यों की त्यों है लेटी,
पड़ी एक करवट कब से तू
बोल, बोल, कुछ तो बेटी !
वह चुप थी, पर गूँज रही थी
उसकी गिरा गगन-भर भर,—
'मुझको देवी के प्रसाद का—
एक फूल तुम दो लाकर !'

[५]

"कुछ हो देवी के प्रसाद का
एक फूल तो लाऊँगा,
हो तो प्रातःकाल, शीघ्र ही
मंदिर को मैं जाऊँगा।
तुझ पर देवी की छाया है,
और इष्ट है यही तुझे;
देखूँ देवी के मंदिर में
रोक सकेगा कौन मुझे।"
मेरे इस निश्चल निश्चय ने
झट से हृदय किया हलका;

ऊपर देखा,—अरुण राग से
रंजित भाल नभस्थल का !
झड़ सी गई तारकावलि थीं
म्लान और निष्प्रभ होकर;
निकल पड़े थे खग नीड़ों से
माने सुध-बुध सी खोकर।
रस्सी-डोल हाथ में लेकर
निकट कुएँ पर जा जल खींच,
मैंने स्नान किया शीतल हो;
सलिल-सुधा से तनु को सींच।
उज्ज्वल वस्त्र पहन घर आकर
अशुचि-ग्लानि सब धो डाली,
चंदन-पुष्प-कपूर-धूप से
सज ली पूजा की थाली।
सुखिया के सिरहाने जाकर
मैं धीरे से खड़ा हुआ;
आँखें झँपी हुई थीं, मुख भी
मुरझा सा था पड़ा हुआ।
मैंने चाहा,—उसे चूम लूँ,
किंतु अशुचिता से डरकर
अपने वस्त्र सँभाल, सिकुड़कर
खड़ा रहा कुछ दूरी पर।

वह कुछ कुछ मुसकाई सहसा,
जानें किन स्वप्नों में लग्न,
उसकी वह मुसकाहट भी हा!
कर न सकी मुझको मुद-मग्न।
अक्षम मुझे समझकर क्या तू
हँसी कर रही है मेरी ?
बेटी, जाता हूँ मंदिर मैं
आज्ञा यही समझ तेरी।
उसने नहीं कहा कुछ, मैं ही
बोल उठा तब धीरज धर,—
तुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल तो दूँ लाकर !

[६]

ऊँचे शैल-शिखर के ऊपर
मंदिर था विस्तीर्ण विशाल;
स्वर्ण-कलश सरसिज विहसित थे
पाकर समुदित रवि-कर-जाल।
परिक्रमा सी कर मंदिर की,
ऊपर से आकर झर झर,
वहाँ एक झरना झरता था
कल कल मधुर गान कर कर।

पुष्प-हार सा जँचता था वह
मंदिर के श्री-चरणों में,
त्रुटि न दीखती थी भीतर भी
पूजा के उपकरणों में।
दीप-धूप से आमोदित था
मंदिर का आँगन सारा;
गूँज रही थी भीतर-बाहर
मुखरित उत्सव की धारा।
भक्त-वृंद मृदु-मधुर कंठ से
गाते थे सभक्ति मुद-मय,—
'पतित-तारिणी पाप-हारिणी,
माता, तेरी जय जय जय'!
'पतित-तारिणी, तेरी जय जय'—
मेरे मुख से भी निकला,
बिना बढ़े ही मैं आगे को
जानें किस बल से ढिकला!
माता, तू इतनी सुंदर है,
नहीं जानता था मैं यह;
माँ के पास रोक बच्चों की,
कैसी विधि यह तू ही कह?
आज स्वयं अपने निदेश से
तूने मुझे बुलाया है;

तभी आज पापी अछूत यह
श्री-चरणों तक आया है !
मेरे दीप-फूल लेकर वे
अंबा को अर्पित करके
किया पुजारी ने प्रसाद जब
आगे को अंजलि भरके,
भूल गया उसका लेना झट,
परम लाभ सा पाकर मैं।
सोचा,—बेटी को माँ के ये
पुण्य-पुष्प दूँ जाकर मैं।

[७]

सिंह-पौर तक भी आँगन से
नहीं पहुँचने मैं पाया,
सहसा यह सुन पड़ा कि—"कैसे
यह अछूत भीतर आया ?
पकड़ो, देखो भाग न जावे,
बना धूर्त यह है कैसा;
साफ-स्वच्छ परिधान किए है,
भले मानुषों के जैसा !
पापी ने मंदिर में घुसकर
किया अनर्थ बड़ा भारी;

कलुषित कर दी है मंदिर की
चिरकालिक शुचिता सारी।"
ऐं, क्या मेरा कलुष बड़ा है
देवी की गरिमा से भी;
किसी बात में हूँ मैं आगे
माता की महिमा के भी ?
माँ के भक्त हुए तुम कैसे,
करके यह विचार खोटा ?
माँ के सम्मुख ही माँ का तुम
गौरव करते हो छोटा।
कुछ न सुना भक्तों ने, झट से
मुझे घेरकर पकड़ लिया;
मार-मारकर मुक्के-घूँसे
धम से नीचे गिरा दिया !
मेरे हाथों से प्रसाद भी
बिखर गया हा ! सब का सब,
हाय ! अभागी बेटी तुझ तक
कैसे पहुँच सके यह अब।
मैंने उनसे कहा,—"दंड दो
मुझे मारकर, ठुकराकर,
बस यह एक फूल कोई भी
दो बच्ची को ले जाकर"।

[८]

न्यायालय ले गए मुझे वे,
सात दिवस का दंड-विधान
मुझको हुआ; हुआ था मुझसे
देवी का महान अपमान !

मैंने स्वीकृत किया दंड वह
शीश झुकाकर चुप ही रह;
उस असीम अभियोग, दोष का
क्या उत्तर देता, क्या कह ?

सात रोज ही रहा जेल में
या कि वहाँ सदियाँ बीतीं,
अविश्रांत वर्षा करके भी
आँखें तनिक नहीं रीतीं।

कैदी कहते—"अरे मूर्ख, क्यों
ममता थी मंदिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी
दूर न था गिरजाघर भी।"

कैसे उनको समझाता मैं,
वहाँ गया था क्या सुख से;
देवी का प्रसाद चाहा था
बेटी ने अपने मुख से।

[९]

दंड भोगकर जब मैं छूटा,
　　पैर न उठते थे घर को;
पीछे ठेल रहा था कोई
　　भय-जर्जर तनु-पंजर को।

पहले की सी लेने मुझको
　　नहीं दौड़कर आई वह;
उलझी हुई खेल में ही हा!
　　अबकी दी न दिखाई वह।

उसे देखने मरघट को ही
　　गया दौड़ता हुआ वहाँ,—
मेरे परिचित बंधु प्रथम ही
　　फूँक चुके थे उसे जहाँ।

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर
　　छाती धधक उठी मेरी,
हाय! फूल सी कोमल बच्ची
　　हुई राख की थी ढेरी!

अंतिम बार गोद में बेटी,
　　तुझको ले न सका मैं हा!
एक फूल माँ का प्रसाद भी
　　तुझको दे न सका मैं हा!

वह प्रसाद देकर ही तुझको
जेल न जा सकता था क्या ?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के
दंड न पा सकता था क्या ?
बेटी की छोटी इच्छा वह
कहाँ पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का
सभी विभव मैं हर लेता ?
यहीं चिता पर धर दूँगा मैं,
—कोई अरे सुनो, वर दो,—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही लाकर दो।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(१) नयन

मद भरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं ?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी—
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं ?
या पथिक से लोल लोचन! कह रहे—
हम तपस्वी हैं सभी दुख सह रहे,
गिन रहे दिन ग्रीष्म-वर्षा-शीत के,
काल-ताल-तरंग में हम वह रहे ॥
मौन हैं पर पतन में, उत्थान में,
वेणु-वर-वादन - निरत - विभु गान में,
है छिपा जो मर्म उसका, समझते,
किंतु तो भी हैं उसी के ध्यान में !
आह ! कितने विकल जन-मन मिल चुके,
खिल चुके, कितने हृदय हैं हिल चुके,
तप चुके वे प्रिय व्यथा की आँच में,
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके !
क्यों हमारे ही लिये वे मौन हैं ?
पथिक ! वे कोमल कुसुम हैं—कौन हैं ?

(२) तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल-गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता॥

तुम प्रेम और मैं शांति,
तुम सुरापान घन अंधकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रांति,

तुम दिनकर के खर किरण-जाल मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग मैं हूँ पिछली पहचान॥

तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि॥१॥

तुम मृदु-मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घन-विटप और मैं सुख-शीतल-तल शाखा॥

तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया,

तुम प्रेममयी के कंठहार मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥

तुम पथ हो मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मन-मोहन,
मैं उन अधरों की वेणु॥२॥

तुम पथिक दूर के श्रांत और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार पार जाने की मैं अभिलाषा॥

तुम नभ हो मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला-हास,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा॥

तुम गंधकुसुम-कोमलपराग मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष मैं प्रकृति प्रेम-जंजीर॥

तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल-गौरव रामचंद्र,
मैं सीता अचला-भक्ति॥३॥

तुम हो प्रियतम मधुमास और मैं पिक कल-कूजन-तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥

तुम अंबर मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका-रचना॥

तुम रण-तांडव उन्माद नृत्य मैं युवति मधुर नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद आकार सार मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि॥

तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुंद-इंदु-अरविंद-शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति॥४॥

सुमित्रानंदन पंत

(१) प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर
प्रहरी-से जुगनू नाना !

शशि-किरणों से उतर उतरकर
भू पर काम-रूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु-मुख
सिखा रहे थे मुसकाना !

स्नेह-हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में
तम ने था मंडप ताना।

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,

किसने तुझको अंतर्यामिनि !
बतलाया उसका आना।
निकल सृष्टि के अंध-गर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना-माना।
छिपा रही थी मुख शशि-बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड़ में बंदी था अलि,
कोक शोक से दीवाना।
मूर्छित थीं इंद्रियाँ स्तब्ध जग
जड़ चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना।
तूने ही पहले बहुदर्शिनि !
गाया जागृति का गाना,
श्री, सुख, सौरभ का नभ-चारिणि !
गूँथ दिया ताना-बाना।
निराकार-तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगज्जाल में
धरकर नाम-रूप नाना।

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना।

खुले पलक, फैली सुवर्ण-छबि,
खिली सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पंदन, कंपन, नव-जीवन फिर
सीखा जग में अपनाना।

प्रथम-रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

(२) छाया

कहो कौन हो दमयंती-सी
तुम तरु के नीचे सोई?
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि! नल सा निष्ठुर कोई?

पीले पत्तों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी मूर्छा-सी
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन दुख-विधुरा-सी?

× × ×

पछतावे की परछाईं-सी
तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता, अँगड़ाई ऐसी
अपराधी-सी, भय से मौन ?

× × ×

निर्जनता के मानस-पट पर
वार वार भर ठंडी साँस—
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

× × ×

निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर

× × ×

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर !

× × ×

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँककर अपने कोमल अंग;

× × ×

पर-सेवा-रत रहती हो तुम
हरती नित पथ-श्रांति अपार,

× × ×

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान ।

रस-चषक

अलि हौं तौ गई जमुना-जल को सो कहा कहौं वीर बिपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई इतनेई में गागर सीस धरी ॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी ॥१॥

—मंडन

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौंही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन ॥
खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा,
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन ॥ २ ॥

—द्विजदेव

झहरि झहरि झीनी बूँदनि परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
आनि कह्यौ श्याम मों सों चलौ झूलिबे कौ आप,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ॥

चाहत उठोई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँख खोलि देखौं तो न घन है न घनश्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसु ह्वै दृगन मैं॥ ३॥
—देव

एरे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन वारि
तोसौं और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े तौ समान, घन
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुनभारे अंत मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पाँयन की हा हा नेकु आनि दै॥४॥
—घनानंद

पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य! यथारथ ह्वै दरसौ।
निधिनीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सज्जनता सरसौ॥
घन आनँद जीवनदायक हौ कबौं मेरिऔ पीर हिए परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मों अँसुवान हू लै बरसौ॥५॥
—घनानंद

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥

दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों किलकैं कल बाल-विनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में विहरैं ॥६॥

—तुलसी

वर दंत की पंगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच, जगै छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै 'तुलसी', बलि जाउँ लला इन बोलन की॥७॥

—तुलसी

देखत सूखि गए मथुरा मल हौं गयों सूखि लख्यों जबै सूकी।
धाय के हाथ धर्यों जो सराफ के सो उन देखि दिखावत मूकी॥
कोई कहै यह धेला छदाम को कोई कहै नहिँ कौड़िहु दू की।
माखन सी पिघलाइ चली जब गाल फुलाइ सुनार ने फूँकी॥८॥

—अज्ञात

वार वार बैल को निपट ऊँचो नाद सुनि
हुंकरत बाघ विरुझानो रस-रेला मैं।
भूधर भनत ताकी बास पाय सोर करि,
कुत्ता कोतवाल को बगानो बग मेला मैं॥
फुंकरत मूषक को दूषक भुजंग, तासों
जंग करिबे को झुक्यो मोर हद हेला मैं।
आपुस में पारिषद कहत पुकारि, कछु
रारि सी मची है त्रिपुरारि के तबेला मैं॥९॥

—भूधर

घोड़ा गिरयो घर-बाहरहीं महाराज कछू उठवावन पाऊँ।
होय कहाँरन को जो पै आयसु डोली चढ़ाय इहाँ तक लाऊँ॥
ऐंड़ो गिरयो बिच पैंड़ोइ माइँ चलै पग एक ना कैसे चलाऊँ।
जीन धरौं कि धरौं तुलसी मुँह देहुँ लगाम कि राम कहाऊँ॥१०॥

—अज्ञात

गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको।
सोई हौं बूझत राजसभा धनु को दलि हौं दलिहौं बल ताको॥
छोटे मुँह उत्तर देत बड़े लरिहै मरिहै करिहै कछु साको।
गोरो गरूर गुमान भरो कहु कौशिक छोटो सो ढोटो है काको॥११॥

—केशव

वोरों सबै रघुबंस कुठार की धार में बारन बाजि सरत्थहिं।
बान की बायु उड़ाय के लच्छन लच्छो करौं अरिहा समरत्थहिं॥
रामहिं बाम समेत पठै बन, सोक के भार मैं भूजौं भरत्थहिं।
जो धनु हाथ लियो रघुनाथ तो आज अनाथ करौं दसरत्थहिं॥१२॥

—केशव

हाथिन सो हाथी मारे, घोरे घोरे सों सँहारे,
रथनि सों रथ बिदरनि, बलवान की।
चंचल चपेट चोट चरन चकोट चाहैं,
हहरानी फौंजें भहरानी जातुधान की॥
बार बार सेवक-सराहना करत राम,
तुलसी सराहै रीति साहेब सुजान की।

लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट,
देखौ, देखौ, लखन, लरनि हनुमान की ॥१३॥

—तुलसी

दबकि दबोरे एक, बारिधि में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर, चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखत राम-रावन बिबुध बिधि,
चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं।
बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान जूथप निपाते बातजात हैं॥१४॥

—तुलसी

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छबंस पर सेर सिवराज हैं॥ १५॥

—भूषण

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि
तुरत लुटावत बिलंब उर धारै ना।
कहै पदमाकर सो हेम हय हाथिन के
हलके हजारन के बितर बिचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव
पाय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना॥१६॥

—पद्माकर

लोथिन सों लोहू के प्रवाह चले जहाँ तहाँ
मानहुँ गिरिन गेरु झरना झरत हैं।
सोनित सरित घोर, कुंजर करारे भारे,
कूल तें समूल बाजि-बिटप परत हैं॥
सुभट सरीर नीरचारी भारी भारी तहाँ,
सूरनि उछाह कूर कादर डरत हैं।
फेकरि फेकरि फेरु फारि फारि पेट खात,
काक कंक बकुल कोलाहल करत हैं॥१७॥

—तुलसी

ओझरी की झोरी काँधे आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मुंड के कमंडलु खपर किए कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठों सो समर सरि खोरि कै॥

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै ॥१८॥

—तुलसी

उतिन उतिन चाम फेरि ताहि काढ़त हैं,
लोथि कों उठाइ भखैं ऐसे बे-अतंक हैं।
सरयो मांस कंधो जाँघ पीठ औ नितंबनु कौ,
सुलभ चबाइ लेत रुचि सौं निसंक हैं ॥
रौंथि डारैं नाड़ी नेत्र आँत औ निकारैं दाँत,
लिथरे सरीर जिन सोनित की पंक हैं।
अस्थिनु पै ऊँचौ नीचौ और तिन बीचहू कौ,
धीरे धीरे कैसे माँस खात प्रेत रंक हैं ॥१९॥

—सत्यनारायण

लपट कराल ज्वाल-जाल-माल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात बिललात जरे जात गात,
परे पाइमाल जात भ्रात तू निबाहि रे ॥
प्रिया तू पराहि नाथ नाथ तू पराहि बाप
बाप तू पराहि पूत पूत तू पराहि रे।

तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे ॥२०॥

—तुलसी

लागि लागि आगि भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े बारि बारि बार बार हीं॥
हय हिहिनात भागे जात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति
तात तात तौंसियत झौंसियत झारहीं ॥२१॥

—तुलसी

हाट बाट कोट ओट अट्टनि अगार पौरि,
खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्हीं अति आगि है।
आरत पुकारत सँभारत न कोऊ काहू,
व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि है॥
बालधी फिरावै बार बार झहरावै, झरैं
बूँदिया सी लंक पघिलाइ पाग पागिहै।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
चित्रहू के कपि सों निसाचर न लागिहै ॥२२॥

—तुलसी

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
जरत निकेत धाश्रो धाश्रो लागि श्रागि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
छोटे छोटे छोहरा, अभागे भोरे भागि रे॥
हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो सोवै सो जगाश्रो जागि जागि रे।
तुलसी बिलोकि श्रकुलानी जातुधानी कहैं,
बार बार कह्यो पिय कपि सों न लागि रे॥२३॥

—तुलसी

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो।
मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न श्रायो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥२४॥

—तुलसी

सात दिन सात राति करि उतपात महा
मारुत झकोरैं तरु तोरैं दिह दुख में।
कहै पदमाकर करी त्यों धूम धारन हूँ
एते पै न कान्ह काहू श्रोधो रोप रुख में॥
छोर छिगुनी के छत्र ऐसो गिरि छाड़ राख्यो
ताके तरे गाय गोप गोपी खरे सुख में।

देखि देखि मेघन की सेन अकुलानी
रह्यो सिंधु में न पानी अरु पानी इंद्रमुख मैं ॥२५॥
—पद्माकर

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मो पर फेर्‌यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यौ लषन सो भ्राता ॥
गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब औसर जानि प्रचारे ॥२६॥
—तुलसी

बतियाँ हुतीं न सपने हू सुनिबे की, सो सुन्यो मैं,
जो हुती न कहिबे की, सो कहोई मैं।
रोवैं नर, नारी, पच्छी, पसु देहधारी, रोवैं,
परम दुखारी, जासों सूलनि सहोई मैं ॥
हाय अवलोकिबो कुपंथहि गहोई,
बिरहागिनि दहोई, सोक-सिंधु निबहोई मैं।
हाय प्रानप्यारे रघुनंदनं दुलारे, तुम
बन को सिधारे, प्रान तन लै रहोई मैं ॥२७॥
—अज्ञात

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं ॥
नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥२८॥

—रसखान

मानुष हों तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ॥
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि-कूल-कदंब की डारन।२६।

—रसखान

चूर्णिका

कबीर

[कबीर का जन्म मगहर जिला बस्ती में हुआ था। कब ? इसका निश्चय नहीं। कोई संवत् १४५६ में मानते हैं और कोई संवत् १४६७ में। कबीर जाति का मुसलमान जुलाहा था। उसके पिता का नाम नूरुद्दीन और माता का नीमा कहा जाता है। जब इसकी अवस्था थोड़ी ही थी, इसका पिता परिवार सहित काशी चला आया। कुछ लोग उसका जन्म लहरतारा, काशी में ही मानते हैं। वहाँ वह साधुओं के सत्संग में रहने लगा। अपना सारा रहन-सहन उसने हिंदुओं के ऐसा कर लिया। उसके हृदय में वैराग्य जग गया था। उसकी जिज्ञासा बहुत बढ़ने लगी। स्वामी रामानंदजी उन दिनों काशी में थे। कबीर ने उन्हें अपना गुरु बनाया। उसने सूफियों का भी सत्संग किया था। उसने अपना अलग पंथ चलाया जिसमें वेदांत और सूफी मत के आधार पर सबकी एकता सिद्ध की गई थी। यही कबीर-पंथ कहलाया। कबीर की शिक्षाएँ बीजक ग्रंथ में संगृहीत हैं। बीजक में तीन प्रधान खंड हैं—साखी, सबद और रमैणी। हिंदू-मुसलमान दोनों ने कबीर की शिक्षाएँ ग्रहण कीं और दोनों ही के पुरोहितों ने उसका विरोध किया। सिकंदर लोदी के पास जब फर्याद

पहुँची तो उसने इसे काशी से निकलवा दिया। फिर यह मगहर चला गया और वहीं सं० १५७५ में इसकी मृत्यु हुई।]

पृ० १. साखी—साक्षी, सबूत। संतों ने अपने दोहों में परमात्मा का सबूत दिया है इसलिए उनके दोहे साखी कहाते हैं। मालन—काल के लिये अन्योक्ति। बाढ़ी—बढ़ई, काल। तरवर—वृक्ष, शरीर। डोलन लाग—बुढ़ापे का कंप। पंखेरू—पक्षी, प्राण। 'हम कटे की...' इस दोहे में छंदो-भंग है। दोहे के पहले और तीसरे चरणों में १३ और दूसरे चौथे में ११ मात्राएँ होती हैं। यहाँ पहले चरण में १२ ही हैं। 'हमें कटे की...' कर देने से ठीक हो जाता है। फागुन—पतझड़ का महीना, काल। रूना—रोया। पीले थाहिं—पीले होने के लिये।

पृ० २. बासिक—बासुकि, सर्प। हिलोलि—हिलाकर। कस्तूरी का मिरग—इस मृग की नाभि में कस्तूरी की थैली रहती है। लेकिन वह स्वयं इस बात को नहीं जानता और घास को सूँघता फिरता है कि यह सुगंधि कहाँ से आ रही है। थोथा—खाली, जिसमें छिलका या भुस ही भुस हो। मधूकरी—भिक्षा।

पृ० ३. लहँड़े—झुंड। हवस—इच्छा। खूँदन—कुचला और खोदा जाना। बनराइ—बनराजि। डलोंचिए—बाहर फेंकिए।

पृ० ४. सबद—गाने की चीज़, पद। संतों का मत है कि भीतर परमात्मा अपना शब्द उच्चारण करते रहते हैं। इसी को अनहद शब्द कहते हैं। संतों के गानों में इसी शब्द का प्रकाश रहता है इसी लिये वे भी शब्द या सबद कहलाते हैं। छगरी—बकरी। मुहम्मद—

मुसलमानों का पैगंबर जिसने इस्लाम धर्म चलाया (ज० ६८६—मृ० ७२७)। कुतबा—किताब का बहुवचन।

पृ० ६. सरजी—रचा। आनें—और। बिसमल कीता—मार डाला। कुकड़ी—मुरगी। हक—सत्य। छिटकाइ—हटा दिया, अलग फेंक दिया या त्याग दिया। भिसति—बिहिश्त, स्वर्ग। दोजग—दोजख, नरक। नलनी—अन्योक्ति से मनुष्य। नालि (पं०) —साथ, पास। जल—ब्रह्म तत्त्व। बागड़ देस—रेगिस्तान, यह संसार। दाम्फन—जलना। हंसा—जीव। देस मालवा—मालवा की भूमि बड़ी उपजाऊ है, सिंचाई के लिये भी अच्छा सुबीता है; पारमात्मिक जीवन। घरहीं—हृदय में स्थित परमात्मा में। गूँगे का गुड़ गूँगै जाना—परमात्मा के मिलने का आनंद उसी प्रकार नहीं कहा जा सकता जैसे गूँगा गुड़ खाकर उसका स्वाद नहीं बतला सकता।

पृ० ७. बन महिया—वन में। तेलक—संभवतः मदारी। फन—चतुराई, धूर्त्तता। तुलहा—संभवतः उपाय। बाहज—बाह्य।

पृ० ८. बिलोवसि—मथता है। मलनां—मैल।

मलिक मुहम्मद जायसी

[मलिक मुहम्मद प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिउद्दीन के शिष्य थे। जायस में रहने के कारण ये जायसी कहलाते हैं। ये एक आँख के काने और एक कान के बहरे थे। इन्होंने सं० १५६७ के लगभग शेरशाह के समय में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ पद्मावत रचा। वेदांत के मत का विवेचन करते हुए इन्होंने एक ग्रंथ अखरावट भी लिखा है।]

पृ० ६. गोरा बादल—गोरा चित्तौर के राजा रत्नसेन का सामंत था। इतिहास में बादल उसका भतीजा माना गया है परंतु जायसी ने पुत्र माना है। कथा चलती है कि दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन राजा रत्नसेन की स्त्री की अनुपम सुंदरता पर मुग्ध था और उसे प्राप्त करना चाहता था। इसलिये उसने चित्तौर पर आक्रमण किया; पर विजय होती हुई न दिखाई दी। उधर तुरेव से भी अलाउद्दीन के राज्य पर आक्रमण होने लगा। अलाउद्दीन को अब छल सूझा। उसने संधि का प्रस्ताव भेजा। गोरा बादल ने राजा को सावधान रहने की चेतावनी दी; पर उसने ध्यान न दिया। सुलतान चित्तौर गढ़ में अतिथि होकर आया था। रत्नसिंह उसको पहुँचाने के लिये अंतिम फाटक तक आया। वहाँ से उसे मुसलमान कैद करके दिल्ली ले आए। अब पद्मावती ने गोरा बादल की शरण ली। अपना अपमान भूलकर अब गोरा बादल ने भी एक छल सोचा। सुलतान को खबर दी गई कि पद्मावती आएगी सही पर रानी के योग्य ठाठ के साथ। वह पहले कैदखाने में राजा से मिलकर चित्तौर की कुंजी सौंपेगी तब शाही हरम में जायगी। सुलतान ने इस शर्त पर राजा को छोड़ना स्वीकार किया। पाँच सौ डोलियों में सहेलियों के स्थान पर हथियारबंद सिपाही और ले जानेवाले कहार भी सिपाही, इस ठाठ के साथ पद्मावती के वेष में लोहार की सवारी दिल्ली पहुँची।

कारी—कालिमा, अंधकार। फिरि—लौटकर, पीछे ताककर। गहन छूटि पुनि चाहै गहा—ग्रहण से छूटकर अभी फिर ग्रहण लगना चाहता है। गोइ—गोय, गेंद। जोरा—खेल का जोरा या प्रति-

द्वंद्वी। सीस-रिपु—रिपु-सीस, शत्रु का सिर। चौगान—गेंद मारने का दंडा। हाल—कंप, हलचल। अगमन—आगे। सकरे साथा—संकट की स्थिति में। समदि—प्रेम से मिलकर। पूरुष—योद्धा।

पृ० १०. मसि—अंधकार। हाँका—ललकारा। गोरा—(क) गोरा सामंत, (ख) श्वेत। आदी—आदि का, जन्म का। बादी—शत्रु। हरद्वानी—हरद्वान की तलवार प्रसिद्ध थी। बानी—कांति, चमक। गाजा—वज्र। इंदू—इंद्र। आइ न बाज...हिंदू—कहीं हिंदू जानकर मुझ पर न पड़े। गोरै—गोरा ने। उठौनी—पहिला धावा। स्यो—साथ। कूँड़—लोहे की टोपी जो लड़ाई में पहनी जाती है। बगमेल—घोड़े का बाग से बाग मिलाकर चलना, सवारों की पंक्ति का धावा। अधर धर मारै—धड़ या कबंध अधर में वार करता है। कंध—धड़। निनारै—बिलकुल, यहाँ से वहाँ तक (अवध)। भोगी—जो भोग-विलास करनेवाले सरदार थे। भारत—घोर युद्ध। कुँवर—गोरा के साथी राजपूत। निवरे—समाप्त हुए।

पृ० ११. गोरै—गोरा ने। करवारू—करवाल, तलवार। स्यों—साथ। टूटै—कट जाता है। निनारे—अलग। चाँचरि—होली। धूका—झुका। भभूका—अँगारे सा लाल। एहि हाथ करहु—इसे पकड़ो। गूँजत—गरजता हुआ। टेका—पकड़ा। पलटि सिंह...आवा—जहाँ से आगे बढ़ता है वहाँ पीछे हटकर फिर नहीं आता। बोलै बाँहाँ—(वह मुँह से नहीं बोलता है) उसकी बाँहें खड़कती हैं। गोरै—गोरा ने। जाज, जगदेऊ—जाजा और जगदेव कोई ऐतिहासिक वीर जान पड़ते हैं। घिसियावा—घिसियावे,

लसीटे। रतनसेन जो...लाल—रतनसेन जो बाँधे गए इसका कलंक गोरा के शरीर पर लगा हुआ है। रुधिर—रुधिर से। रात—लाल अर्थात् कलंकरहित। हुमुकि—जोर से। काढ़ेसि हुमुकि—सरजा ने जब भाला जोर से खींचा। खसी—गिरी।

पृ० १२. सरजै—सरजा ने। जनु परा निहाऊ—मानों निहाई पर पड़ा (अर्थात् साँग को न काट सका)। डाँड़ा—दंड या खड्ग। ओड़न—ढाल। कूँड़—लोहे का टोप। गुरुज—गुर्ज, गदा। काँध गुरुज हुत—कंधे पर गुर्ज था इससे। लागि—मुठभेड़ या युद्ध में। बरिबंडा—बलवान्। सदूर—शार्दूल। तस घाजा—ऐसा आघात पड़ा। ठाँठर—ठठरी। फिरा संसारू—आँखों के सामने संसार न रह गया। स्यों—सहित। सुर पहुँचावा पान—देवताओं ने पान का बीड़ा दिया।

सूरदास

[सूरदास का जन्म संवत् १५४० के लगभग मथुरा और आगरे के बीच रुनकता गाँव में हुआ था। यह भी हाल में पता लगा है कि ये चंद बरदाई के वंशधर थे। इनके पिता का नाम हरीचंद था। इनके छः भाई मुसलमानों के साथ युद्ध में मारे गए। केवल यही शेष रहे। कारण यह था कि ये अंधे थे और युद्ध में नहीं जा सकते थे। ये बहुत दिनों तक निराश्रय फिरते रहे। एक बार कुएँ में गिर पड़े, छः दिन तक वहीं पड़े रहे। आख़िर निस्सहायों के सहाय भगवान् ने कृष्ण रूप में इन्हें दर्शन दिए और कुएँ से बाहर निकाला। उस समय इनकी दृष्टि भी खुल गई। सूरदास ने वर माँगा कि जिस

दृष्टि से आपको देखा है उससे साधारण चीजें न देखनी पड़ें और सदा आपका ध्यान हृदय में रहे। इसी से सूरदास फिर अंधे हो गए। अपने प्रभु की लीलाभूमि में इन्होंने आश्रम बनाया। ये बड़े भक्त कवि हुए। ये सवा लाख पदों के रचयिता प्रसिद्ध हैं। पर अभी तक, मुश्किल से, इनके छः हजार पद मिलते हैं जो 'सूरसागर' में संगृहीत हैं। गोसाईं विट्ठलनाथजी ने इन्हें सबसे बड़े आठ कृष्णभक्त कवियों में, जो अष्टछाप में गिने जाते हैं, सबसे पहला स्थान दिया।]

पृ० १३. अजामेलि—अजामिल एक बहुत पापी मनुष्य था। एक साधु के उपदेश से उसने अपने पुत्र का नाम नारायण रखा और मरते हुए उसके नाम का स्मरण करके तर गया। द्यौस—दिवस।

पृ० १४. जातना—यातना, पीड़ा। करील—एक काँटेदार झाड़ी। बार—देर। गुहत—गूँथते हुए। ओंछत—कंघी करते हुए।

पृ० १५. धौरी—धवली, श्वेत। लौनी—माखन। केहरि-नख—बाघ के नाखून।

पृ० १६. लवनी—नवनीत। सभारे—सवेरे। आरि—हठ। बासनी—छोटा सा बर्तन, थैली। कनौड़े—मोल लिए दास। घनसार—कपूर। दधिसुत—चंद्रमा।

पृ० १७. करद—छुरी। करद कर—हाथ में छुरी लिए हुए। दूर करहु...चंद्र को ढरिबो—मन बहलाने को वीणा बजाने बैठी थी कि किसी तरह रात कटे। पर उसकी तान सुनकर चंद्रमा के रथ के मृग मोहित होकर रुक गए जिससे रात लंबी हो गई, चंद्रमा ढलता

ही नहीं। इसलिए चीणा को रख देना चाहिए। गरिबो—गिरिबो, गिरना। गलना अर्थ लगाया जाय तो एक सुंदर अर्थ की उद्भावना हो जायगी। वह यह कि हृदय पिघलकर नयनों के द्वारा बाहर निकल रहा है, पर इसमें अध्याहार बहुत करना पड़ता है। इससे यह खैंचा-तानी ही कहलाएगा। सूरदास शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा बहुत करते थे। तुक के लिये गिरिबो को गरिबो कर देना उनके लिये साधारण बात है।

पावस—वर्षा। भए कारे—सुरमा मिले आँसुओं से। कंचुकि—अँगिया। अंबु बढ़्यो है—गोपियों के आँसुओं के कारण।

एक कोद को हेत—एक तरफ का प्रेम। करनि—कठिनाई से। नै नै बाहैं देत—बड़े परिश्रम से खेत जोतता है। कृत राई रेत—बेकाम कर दिया है। रेत में मिली राई को अलग करना अत्यंत कठिन है, इसलिये वह बेकाम हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास

[गोसाईंजी की शिष्य-परंपरा में उनका जन्म संवत् १५५४ माना जाता है। शिवसिंह सेंगर ने १५८३ में इनका जन्म होना लिखा है। ये राजापुर के पं० आत्माराम के पुत्र थे। इनकी माता का नाम हुलसी था। वेणीमाधवदास के मूल गोसाईंचरित में लिखा है कि इनके पेट ही से दाँत उग आए थे और इनको जन्म देकर इनकी माता मर गई थी। एक दासी ने पाँच वर्ष तक इनका पालन किया। साँप काटने से वह भी मर गई। कुलक्षण समझकर इनके पिता ने इन्हें त्याग दिया

तब नरहर्यानंदजी ने इनको पाला-पोसा और इनके सब संस्कार किए। इन्हीं ने इनका नाम तुलसीदास रखा। इनका पहला नाम रामबोला था। शेष-सनातनजी के पास काशी में इन्होंने विद्या प्राप्त की। आगे चलकर इनका विवाह भी हुआ। एक बार ये अत्यंत प्रेम के कारण अपनी स्त्री के पीछे पीछे अपनी ससुराल को दौड़े गए। इस पर इनकी स्त्री ने इन्हें फटकारा जिससे इन्हें वैराग्य हो गया। इन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया और गीतावली तथा रामचरितमानस सरीखे कई अनुपम ग्रंथ लिखे। इनकी मृत्यु काशी में सं० १६८० में हुई।]

पृ० १८. गनी—अमीर, धनाढ्य। निसंबल—वह पथिक जिसके पास राह-खर्च न हो। राम-राज-मारग—रामभक्ति रूपी राजमार्ग, आम सड़क—जो सब लोगों के लिये खुली रहती है। तुहिन—बर्फ। सद्य—ताजा।

उपल—शिला; अहल्या अपने पति गोतम के वेश में आए हुए इंद्र के बहकाने में आ गई थी। गोतम के शाप से वह शिला बनी पड़ी थी। रामचंद्र जब जनकपुर जा रहे थे उस समय उन्होंने अपने चरण-स्पर्श से उसका उद्धार किया।

केवट—निषाद-राज गुह। इसने वनवास जाते हुए राम को अपनी नौका से गंगा पार कराया था। यह राम का बड़ा प्रिय था। गीध—जटायु; यह सीता को रावण से छीनने के उद्योग में आहत होकर मरा। राम ने अपने हाथों से इसका क्रिया-कर्म किया। सबरी—यह एक भीलनी थी जिसने चख चखकर मीठे बेर चुनकर

राम के लिये रखे थे। राम ने बड़े प्रेम से इन बेरों को खाया था। सुग्रीव—इसका बड़ा भाई बालि इसे बहुत सताता था। रामचंद्र ने बालि को मारकर इसे किष्किंधा का राजा बनाया। जातुधानेस—यातुधानों या राक्षसों का राजा रावण। विभीषण ने रावण को राम-भक्ति का उपदेश दिया था। इस पर रावण ने उसे लात मारकर निकाल बाहर किया।

पृ० १६. लंकेस कहि—रावण को मारकर हम तुम्हें (विभीषण को) लंका का राज्य देंगे। 'लंकेश' कहने का यही अभिप्राय है।

पृ० २०. चतुरंग सेन—चतुरंगिणी सेना, जिसमें पैदल, घुड़-सवार, रथ और हाथी ये चार अंग होते हैं। खभारू—क्षोभ, खल-बली। गजाली—हाथियों की पंक्ति।

पृ० २१. ससि—चंद्रमा ने तीनों लोकों को जीतकर राज-सूय यज्ञ किया। अपने वैभव के मद में उसने अपने गुरु बृह-स्पति की स्त्री तारा को हरकर उसके साथ अनीति की जिससे बुध उत्पन्न हुआ। इस पर देवताओं ने चंद्रमा पर चढ़ाई की। राक्षस चंद्रमा की तरफ से लड़े। युद्ध का जब अंत न दिखाई दिया तो ब्रह्मा ने बीच-बिचाव किया। चंद्रमा को तारा लौटा देनी पड़ी, पर बुध उसे मिल गया।

नहुप—ये बड़े न्याय-निपुण तथा ज्ञानी राजा थे। इंद्र पर एक बार ब्रह्महत्या का दोष लगा और वह लुक गया। नहुप को इंद्र-पद दिया गया। मद में आकर इन्होंने बुरी वासना से इंद्राणी को अपने पास बुला भेजा। बृहस्पति के कहने से इंद्राणी ने कहला भेजा कि

यदि ब्राह्मणों से अपनी पालकी उठवाकर आओ तो तुम्हें स्वीकार करूँ। नहुष ने ऐसा ही किया। ब्राह्मण चल नहीं सकते थे। नहुष ने कहा 'सर्प सर्प' (जल्दी चलो, जल्दी चलो)। इस पर ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि जा, सर्प हो जा और नहुष सर्प हो गए। इंद्राणी के सतीत्व की रक्षा हुई।

वेन—यह राजा जन्म ही से बड़ी दुष्ट प्रकृति का था। इससे तंग आकर इसके पिता ने वानप्रस्थ ले लिया। जब इसे राजगद्दी मिली तो यह बड़ा उत्पात मचाने लगा। विष्णु के स्थान पर यह अपनी पूजा चलवाने लगा। ब्रह्मर्षियों ने इसे बहुत समझाया पर जब इसने एक न माना तो उन्होंने शाप देकर इसे भस्म कर दिया।

सहस्रबाहु—यह एक बार आखेट करते करते जमदग्नि के आश्रम पर जा पहुँचा। मुनि ने उसका राजोचित सम्मान किया जिसे देखकर सहस्रबाहु दंग रह गया। जब उसने जाना कि मुनि के पास कामधेनु है जिससे उन्हें किसी बात की कमी नहीं तो उसने उनसे उसे माँगा। माँगकर न मिली तो वह जमदग्नि को मारकर उसे ले चला। गऊ तो छूटकर इंद्रलोक को भाग गई परंतु परशुराम ने क्रुद्ध होकर सहस्रबाहु के सहित क्षत्रियों का २१ बार संहार करके इस अपमान का बदला लिया। यज्ञ करके अपने पिता को जीवित भी कर लिया।

सुरपति—एक बार इंद्र ने खड़े होकर बृहस्पति के आने पर उनका स्वागत नहीं किया। बृहस्पति के अप्रसन्न होकर चले जाने पर दैत्यों ने देवताओं पर आक्रमण किया और उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया। फिर देवता बृहस्पति ही की शरण गए तब उन्होंने उपाय बताया।

त्रिशंकु—अपने ऐश्वर्य्य के गर्व से त्रिशंकु सशरीर स्वर्ग जाना चाहता था। विश्वामित्र ने तपोबल से उसे स्वर्ग की ओर भेजा। देवताओं ने उसे नीचे ढकेला। इससे वह बीच ही में टँगा रह गया।

पृ० २२. रजायसु—आज्ञा। भाथा—तरकस। प्रवान—प्रमाण। अँचवत—पीते ही। मातहिं—मत्त हो जाते हैं। मंदाकिनी—गंगा।

पृ० २३. तरनि—सूर्य। मकु—बल्कि, शायद। आन—दुहाई।

पृ० २४. खोरी—बुराई, दोष। जल-अलि—भौंतुवा, एक काला कीड़ा जो पानी पर तैरता रहता है। ईति—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, टिड्डीदल, तोते और पास के राजे। ये छः कृषि के विघ्न। खेरा—छोटा ग्राम, पुरवा। खगहा—गैंडा।

पृ० २५. चक—चकवा।

पृ० २६. परमारथु—मोक्ष। तून—तरकस। गुदरत—अलग रहना। चंग—पतंग, गुड्डी। निसंग—तरकस।

पृ० २७. गाँडर ताँती—वीरन या खस की जड़ की ताँत। सुरगन सभय धुकधुकी धरकी—डर से देवताओं की छाती धड़कने लगी कि न हो राम अयोध्या लौट जायँ और देवद्रोही रावण न मारा जाय।

लटी—विकृत हो गई है, जिससे आवाज अच्छी तरह नहीं निकलती।

पृ० २८. परुष पाहन—कठोर पत्थर, ओले। एक—निराला। कुलिस—वज्र। चरग—बाज।

पृ० २६. ऊख—ऊष्म, गरम ।

अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम'

[इनका जन्म सं० १६१० में हुआ था। ये अकबर के अभिभावक खानखाना के पुत्र थे। ये बड़े कवि और दानी थे। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपए का पुरस्कार दिया था। इन्होंने संस्कृत, हिंदी और फारसी सभी भाषाओं में अच्छी कविता की है। इनके दोहे और बरवै प्रसिद्ध हैं। बरवै छंद में इन्होंने नायिका-भेद भी लिखा है। इनकी गोसाईं तुलसीदासजी से बड़ी घनिष्टता थी। ये अकबरी दरबार के रत्न थे। ये उसके सेनापति और मंत्री थे। पीछे ये जहाँगीर के विरुद्ध हो गए थे। इससे ये कैद कर लिए गए और इनकी जागीर छीन ली गई। पर फिर इन्हें क्षमा मिल गई। सं० १६८६ में ये विद्रोही महाबतखाँ के विरुद्ध भेजे गए। परंतु मार्ग ही में, दिल्ली में, इनका स्वर्गवास हो गया।]

पृ० ३०. अच्युत-चरन-तरंगिनी—अच्युत विष्णु का एक नाम है। पुराणों में गंगा का विष्णु के चरणों से निकलना कहा गया है। शिव के सिर पर भी वे विराजती हैं। हरि (विष्णु) न बनायो—क्योंकि उस दशा में गंगा को मेरे चरणों पर रहना पड़ेगा। इंदव-भाल—(चंद्रमा है जिसके ललाट पर) शिव बनाना जिससे तुम मेरे सिर पर ही रहो।

बंस-दिया—बाँस पर लगाया हुआ आकाश-दीप। पत्र—दल, पँखड़ी। पितहि—अर्थात् जल को। सकुचि...सीत—सिकुड़कर चंद्रमा

के शीत को जल में उसकी वृद्धि के लिये पड़ने देता है। पिता पुत्र में इतनी प्रीति है कि परकीय वैरभाव का कोई फल नहीं होने पाता।

मुनिपत्नी—अहल्या। अनखाए—विना खाए। अनखाय—क्रुद्ध हो। सेस—(१) शेषनाग, (२) बचा-खुचा।

पृ० ३१. मूकन—मुक्कियों से।

पृ० ३२. घुरवा—घोर अर्थात् गर्जन।

पृ० ३३. ब्यावर—प्रसव।

कै गोयम अहवालम, पेश निगार,

तनहा नज़र न आयद दिल लाचार—प्रिय से अपना हाल कैसे कहूँ? अकेला मिलता ही नहीं; चित्त विकल है।

विहारीलाल

[विहारीलाल का जन्म ग्वालियर के पास बसुआ-गोविंदपुर गाँव में संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। बचपन में ये बुँदेलखंड में रहे और जवानी में अपनी ससुराल, मथुरा में। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराजा जयसिंह) के आश्रय में रहते थे। इन्हीं के कहने पर इन्होंने ने सात सौ के लगभग दोहे रचे जो इनकी सतसई में संगृहीत हैं। विहारी-सतसई इतना गंभीर ग्रंथ बना कि इस पर दर्जनों टीकाएँ हो चुकी हैं और नई नई होती जा रही हैं। इनकी मृत्यु सं० १७२० के आसपास मानी जाती है।]

पृ० ३४. स्यामु—(१) कृष्ण, (२) काला रंग, (३) पाप। हरित दुति—(१) फीका, कम सुंदर, (२) हरा रंग, (३) जिसका प्रभाव हर लिया गया हो। अनाकनी—आनाकानी। प्रथम

तीन दई—दैव। चैाथा दई—जो दी है। जगबाइ—दुनिया की हवा। अएरि—अंगीकार करके।

पृ० ३५. हिय-धर—हृदयरूपी धरा अर्थात् देश। समरु—स्मर, कामदेव। निसान—ध्वजा। कनकु—(१) धतूरा, (२) सोना। प्रयाग—यहाँ त्रिवेणी है। यहाँ की त्रिवेणी में कृष्ण का श्याम वर्ण यमुना, राधिका का गौर वर्ण गंगा और भक्त का अनुराग लाल वर्ण-वाली सरस्वती है जो गुप्त है, दिखाई नहीं देती। साथ—सार्थ अर्थात् संघ या समूह।

पृ० ३६. पगारु—खाईं, गड़हा, पाँवों से हलकर पार जाने योग्य। अपत—अपत्र, बिना पत्तों की। हमामु—हम्माम, स्नान करने की कोठरी, जो गरम कर दी जाती है। न ए—ये नहीं। नए—विनम्र, नए हुए। आँट—दाँव। बीचु—फर्क। अरक—आक का पेड़। अरक—सूर्य्य। उदोत—उद्योत, प्रकाश।

पृ० ३७. भज्यौ—भागा। भज्यौ—भजन किया। बरिया—अवसर। करिया—कर्णधार। औथरौ—छिछला। बाइ—बावली। अकस—स्पर्द्धा, दूसरे से बढ़ जाने की इच्छा। इंद्र-धनुष रँग—ओठों की लालिमा, दृष्टि की शुभ्रता, पीतांबर का पीलापन और बाँस का हरापन सब मिलकर। श्रुति—वेद, जो पीढ़ी दर पीढ़ी सुन करके याद होते आ रहे हैं। सुम्रत्यौ—स्मृति। निसकहीं—दुर्बल ही को।

पृ० ३८. छायाग्राहिनी—राक्षसी जो जल में के प्रतिबिंब के सहारे बिंब (असल) वस्तु को खींचकर चट कर जाय। इसी प्रकार की एक राक्षसी लंका के पास समुद्र में रहती थी जो आकाश-

मार्ग से लंका जानेवालों को भी खा जाया करती थी। हनुमान् पर जब इसने अपना बल दिखाना चाहा तो उन्होंने इसे मार डाला। ओढ़—गधे पर बोझ ढोनेवाला। वै नै—वय नदी, नई उमर रूपी नदी।

पृ० ३९. कहलाने—कातर, व्याकुल। चिनगी चुगै अँगार की—कहते हैं कि चकोर जलते हुए अंगारे खा जाता है। सतर ह्वै—तनेने होकर, ऐंठकर। गैन—गगन, आकाश।

पृ० ४०. वृषभानुजा—(१) वृषभानु की पुत्री, राधा। (२) वृषभ या बैल की अनुजा, छोटी बहिन। हलधर—(१) बलदेव। (२) हल चलानेवाला बैल।

पद्माकर भट्ट

[पद्माकर मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८१० में, बाँदे में, हुआ था। पद्माकर के पिता भी कवि थे। पुत्र में यह गुण कई गुना होकर आया। ये कई राजा-महाराजाओं के यहाँ से सम्मानित हुए थे। संवत् १८४९ के लगभग इन्होंने प्रसिद्ध योद्धा हिम्मतबहादुर (गोसाईं अनूप गिरि) की प्रशंसा में हिम्मतबहादुर-विरुदावली बनाई। सं० १८५६ में ये सतारा के महाराजा रघुनाथराव के यहाँ भी गए थे। उनके यहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ था। परंतु अधिकतर ये जयपुर दरबार में रहे। महाराजा प्रतापसिंह और उनके पीछे उनके पुत्र जगत्सिंह इन्हें बहुत मानते थे। जगत्सिंह के नाम पर इन्होंने जगद्विनोद बनाया। कुछ दिनों ये उदयपुर, ग्वालियर और बूँदी में भी रहे थे।

वृद्धावस्था में ये, बहुत रुग्ण होने के कारण, कानपुर में गंगातट पर बस गए। वहीं इन्होंने गंगालहरी बनाई। ८० वर्ष की अवस्था में इनका शरीर-पात हुआ।]

पृ० ४१. कूरम—कूर्मावतार। कोल—वाराहावतार, पृथ्वी का कूर्म (कछुए) की पीठ पर, सुअर के दाँत पर और शेष-नाग के सिर पर रहना पुराणों में कहा गया है। रजत-पहार—कैलास। चित्रगुप्त—धर्मराज के दफ़्र का लेखक जो मनुष्यों के पाप पुण्यों का लेखा रखता है।

पृ० ४२. कछार—खादर, दियारा, नदी के तट की वह भूमि जो नदी हटने से निकली हो।

ब्रह्मा के कमंडल में, विष्णु के चरणों में और शिवजी की जटा में गंगा का वास माना जाता है। सगर के पुत्रों को तारने के लिये, भगीरथ बड़ी तपस्या के बाद गंगा को पृथ्वी पर लाए थे। आगे आगे भगीरथ का रथ चलता था और उसी लकीर पर पीछे पीछे गंगा चलती थीं।

जह्नु—जब भगीरथ गंगा को लेकर आ रहे थे तब ये मार्ग में यज्ञ कर रहे थे। गंगा के कारण यज्ञ में विघ्न होने के भय से इन्होंने उसको पी लिया था। भगीरथ की प्रार्थना पर पीछे कान से निकाल दिया था।

कहर—क्लेश, पीड़ा। गरद कीन्हे—धूल में मिला दिए।

पृ० ४४. रेणुका की रासन में—बालू के ढेर में। आसन लदाऊ के—भराव की जगह में।

संबुक—घोंघे, सीपी आदि। सेवारन—शैवाल। झारन में झाऊ के—झाऊ की झाड़ियों में। कंठ—तट। अटहर—फेंटा पगड़ी।

नरोत्तमदास

[शिवसिंहसरोज में नरोत्तमदास का संवत् १६०२ में वर्तमान रहना कहा गया है। ये सीतापुर जिले के वाड़ी नामक कसबे के निवासी थे। मिश्रबंधुओं ने अनुमान किया है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका सुदामाचरित्र बहुत सरस तथा हृदयग्राही है। इस संग्रह में यह ग्रंथ कुछ संक्षेप से दिया गया है। इसमें के वर्णन बिल्कुल यथातथ्य और इसी कारण अत्यंत प्रभावशाली हैं। भाषा भी बहुत शुद्ध है।]

पृ० ४६. सिद्धि करो—जाओ। मंगलाकांक्षा से प्रस्थान करने को सिद्ध करना कहा जाता है। कोदो-सवाँ—कोद्रव और श्यामाक, कदन्न।

पृ० ४७. पेलि—ठेलकर, जबर्दस्ती। कनावड़ो—मोल लिया हुआ दास। जक—बर्राहट। छड़िया—छड़ी लिए हुए द्वारपाल। बाली—अनाज की बाल। बूट—चने का पौधा।

पृ० ४८. उपानह—जूता। सामा—सामान, सामग्री।

पृ० ४६. धन्य कहा कहिए...पावन कीनो—सुदामा को विदा करते समय कृष्ण का कथन। तंदुल—चावल। कर ओड़त फिरे—(माँगने के लिये) हाथ फैलाते फिरे। गयंद—गजेंद्र, श्रेष्ठ हाथी। झखत—दुखित होते हुए। गौतम रिषि को नाउँ—किसी अनजान नगर में जाने से पहले आपत्तियों से रक्षा के निमित्त गौतम ऋषि का स्मरण किया जाता है। सुदामा ने अपने नगर को, जिसमें इसी बीच विश्वकर्मा ने कृष्ण के आज्ञानुसार फेरफार कर दिया था, पहचाना नहीं।

पृ० ८०. डौंड़न की माला—बड़ी इलायची के आकार के एक प्रकार के फलों की माला।

चामीकर—सुवर्ण। हो न—नहीं था।

हरिश्चंद्र

[बाबू हरिश्चंद्र का जन्म सं० १९०७ के भाद्रपद की शुक्ला सप्तमी को, काशी में, हुआ था। ये प्रसिद्ध सेठ अमीचंद के वंशज थे। इनके पिता का नाम गोपालचंद था जो अच्छे कवि और चालीस ग्रंथों के रचयिता थे। पिता के गुण पुत्र में आए। छः वर्ष की अवस्था में ही ये कविता करने लगे थे। इन्होंने पेनीरीडिंग रूम, तदीय समाज आदि कई संस्थाओं की स्थापना की थी और कविवचनसुधा, हरिश्चंद्र-चंद्रिका और हरिश्चंद्र-मेगज़ीन नामक पत्र-पत्रिकाएँ निकाली थीं। सं० १९२७ में ये ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बनाए गए। इन्होंने बीसियों नाटक लिखे और अनुवाद किए। इनकी कविता और उपाख्यान तथा निबंधों की कुछ गिनती नहीं। ये बड़े उदार और सौंदर्यप्रिय व्यक्ति थे। व्यय में संयम न रखने के कारण इनको अंत में धन-संकट उठाना पड़ा। ये हिंदी भाषा के बड़े प्रेमी थे। राजा शिवप्रसाद फारसी मिली भाषा के पक्षपाती थे, इससे इन्होंने उनका विरोध किया। राजा शिवप्रसाद को सितारेहिंद खिताब मिलने पर हिंदी के समाचारपत्रों ने एकमत होकर इन्हें भारतेंदु की उपाधि दी जो सबको पसंद हुई।]

पृ० ८१. प्रबोधो—समझाओ। पतियावै—विश्वास करे। इनारुन—इंद्रायण, एक फल जो देखने में उतना ही सुंदर होता है जितना खाने में कड़ुआ।

पिंग—कुछ पीलापन लिए हुए, मटमैले रंग की।

पृ० ५२. वादन करत—बजाते हुए। अघ—पाप। आरोहन—चढ़ाव। अवरोहन—उतार। अघट—जो घटे नहीं। खगोल—गोलाकार आकाश। कर-आमलक—हथेली पर का आँवला जो उलट-पुलट करके संपूर्ण देखा जा सकता है। ब्रह्म—परम तत्त्व, परमात्मा। जीव—प्राणियों का आत्मा। निर्गुण—परमात्मा का शुद्ध निरुपाधि रूप जिस पर गुणों का आरोप नहीं हो सकता। सगुण—परमात्मा का त्रिगुणात्मक व्यक्त रूप। द्वैत—वह दार्शनिक मत जिसमें परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति की अलग अलग सत्ता मानी जाती है। अद्वैत—जिसमें इन तीनों की एकता और अभिन्नता मानी जाती है, जो भेद दिखाई देता है वह मायाकृत और केवल भ्रम माना जाता है। नित्य—अविनाशी। अनित्य—नाशवान्।

श्रीधर पाठक

[पंडित श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण थे। संवत् १९१६ में इनका जन्म आगरा जिले के जोंधरी गाँव में हुआ था। पहले इन्होंने घर पर संस्कृत पढ़ी। इंट्रेंस तक की इन्होंने स्कूली शिक्षा प्राप्त की। सं० १९३७ में इन्होंने सरकारी नौकरी कर ली। वहाँ इन्होंने बड़ी तत्परता दिखाई। अंत में ये युक्त-प्रांतीय सरकार के दफ़्तर के सुपरिंटेंडेंट पद तक पहुँचे। सरकार में इनकी बड़ी प्रशंसा हुई। सरकारी नौकरी से इन्होंने पेंशन ले ली थी। इन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में कविता की है। इनकी ब्रजभाषा की कविताएँ अधिक सरस और मधुर हैं। भाषा इनकी शुद्ध और काव्योपयोगी है। परंतु खड़ी बोली इतनी

शुद्ध नहीं है। ये प्राकृतिक सौंदर्य के बड़े उपासक थे। 'देहरादून', 'शिमला' तथा 'काश्मीर-सुषमा' में इनका प्रकृति-प्रेम खूब झलकता है। इन्होंने भारत की प्रशंसा में भी कविता की है जिसका संग्रह भारत-गीत नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके अनुवाद इनकी स्वतंत्र रचनाओं से भी सुंदर हैं। इनके ऊजड़ ग्राम, श्रांत पथिक और एकांत-वासी योगी गोल्डस्मिथ के ग्रंथों के अनुवाद हैं। कालिदास के ऋतुसंहार का भी इन्होंने अनुवाद किया है जो सबको मधुर लगता है। सितंबर सन् १९२८ में इनकी मृत्यु हुई।]

पृ० ५३. सुषमा—सुंदरता। उत्पल—कमल। सरोरुह—कमल। षट्पद—छः पैरोंवाले, भौंरे। सीरै—शीतल।

पृ० ५४. मृणालिनी—कमलिनी। मकरंद—फूलों का रस। पराग—फूलों की रज। ओखे समै—बुरे दिन। बिरवा—पेड़। सौरभ—सुगंधि। मुकुर—दर्पण।

पृ० ५५. गह्वर—गुफा। स्रैननि—श्रेणियों में, पंक्तियों में। वितस्ता—एक नदी का नाम, झेलम। अद्रि—पर्वत। नैसर्ग-निधि—प्राकृतिक खजाना। निखिल—सब। अवधूत—योगी।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

[पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय अगस्त्यगोत्री, शुक्ल यजुर्वेदी सनाढ्य ब्राह्मण हैं। इनका जन्म सं० १९२२ में आजमगढ़ जिले के कसबा निजामाबाद में हुआ। इन्होंने सं० १९३६ में वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा पास की और सं० १९४४ में नार्मल। घर पर इन्हें संस्कृत और फारसी की भी शिक्षा मिली थी। पहले ये अपने ही कसबे के

तहसीली स्कूल में अध्यापक हुए। पीछे इन्होंने कानूनगोई पास की और कानूनगो बनाए गए। पेंशन लेते समय ये सदर कानूनगो थे। आजकल काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी के अवैतनिक अध्यापक हैं। कविता के क्षेत्र में उपाध्यायजी का स्थान बहुत ऊँचा है। आपका 'प्रियप्रवास' एक अत्यंत सुंदर महाकाव्य है जिसमें प्रेम की मधुर व्यंजना के साथ साथ समाज-सेवा का ऊँचा आदर्श दिखाया गया है। प्रियप्रवास में मधुर और कोमल संस्कृत पदावली का उपयोग किया गया है। उपाध्यायजी ने बोलचाल की भाषा में भी बड़ी चुटीली उक्तियाँ कही हैं। इन पिछली रचनाओं में उन्होंने मुहावरों और कहावतों का बड़ा फबता प्रयोग किया है। इन रचनाओं का 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' इन तीन ग्रंथों में संग्रह किया गया है। इसी तरह उपाध्यायजी के गद्य-लेखों में भी दो शैलियाँ मिलती हैं।]

पृ० ५८. अंशु—किरण। वियत—आकाश। व्यूह—घेरा। रसा—पृथ्वी।

पृ० ५९. कर सुप्लावित—डुबाकर।

पृ० ६०. प्रतिरक्ति—कृपा, प्रसाद।

पृ० ६१. प्रभंजन—आँधी। राजि—पंक्ति। भुज-पोत—बाहु-रूपी जहाज। असितता—कालापन।

पृ० ६२. उलही—प्रसन्न, उल्लसित।

पृ० ६५. आँवला हथेली का—जो उलट पुलटकर अच्छी तरह देखा जा सकता है। संस्कृत मुहावरा, हस्तामलक।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

[बाबू जगन्नाथदास का जन्म सं० १९२३ में, काशी में, हुआ। इनके पिता बाबू पुरुषोत्तमदास अग्रवाल थे। इनके पूर्वज मुगल बादशाहों के यहाँ प्रतिष्ठित पदों पर रहते थे। अतएव इनके घर में फारसी का बड़ा मान था। जगन्नाथदासजी ने भी बी० ए० में फारसी ली थी और फारसी ही लेकर एम० ए० करना चाहते थे पर किसी कारण से परीक्षा न दे सके। पहले-पहल ये फारसी में कविता किया करते थे। परंतु उस समय के हिंदी-प्रेम की लहर से, नागरीप्रचारिणी सभा जिसका प्रतीक है, ये नहीं बच सके और इन्होंने भी हिंदी में कविता रचना आरंभ कर दिया। इनकी कविता पुरानी पद्धति पर चलती हुई भी अत्यंत ओजपूर्ण होती थी। पढ़ने पर यही भान होता है कि पद्माकर या देव की कविता है। ये व्रजभाषा के उच्च कोटि के कवि थे। इनके 'हरिश्चंद्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धवशतक' काव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। गंगावतरण पर इन्हें हिंदुस्तानी एकेडेमी से ५००) का पुरस्कार मिला था। ये अयोध्या-नरेश महाराज सर प्रतापनारायण सिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। उनकी मृत्यु पर उनकी महारानी साहिबा ने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाया था। ये जीवन भर उसी पद पर रहे। जून सन् १९३२ में, हरद्वार में, इनका देहांत हो गया।]

पृ० ६६. गोकरन-धाम—एक शैव क्षेत्र जो मालाबार में है। रावण आदि ने यहाँ तप किया था।

पृ० ६७. रह्यौ भूप रूप...रेखा सौ—तप से राजा इतने क्षीण हो गए कि संदेह होने लगा कि वे हैं या नहीं हैं। भावना की तरह गुप्त से हो

गए। रेखागणित में मानी हुई रेखा के समान वे थे भी और नहीं भी थे। पुरहूत—इंद्र।

पृ० ६९. तारन-बिरद-उतंग—तारने की कीर्त्ति से उत्कृष्ट। जुड़ैहैं—ठंडा करेंगे। ब्रह्मद्रव—गंगा के रूप में द्रवीभूत परमात्मा।

पृ० ७०. आशुतोष—बहुत जल्दी संतुष्ट होनेवाले। दुर्दर—जिसको दलन करना कठिन हो।

पृ० ७१. बच्छ-स्थल—वक्षःस्थल, छाती। प्रलंब—लंबी।

पृ० ७२. दुरद-दवन—गजासुर - मर्दन। तांडव—शिवजी का उग्र नृत्य। प्रनतारतिहारी—प्रणत (भक्त) की आर्त्ति (दुःख) को हरनेवाले।

पृ० ७३. द्वंद्व-ऊष्मस—विरोधी विचारों का ताप।

जयशंकर 'प्रसाद'

[बाबू जयशंकर 'प्रसाद' कान्यकुब्ज वैश्य हैं। इनका जन्म सं० १९४६ में, काशी में, हुआ। इन्होंने घर पर ही संस्कृत, फारसी, हिंदी और अँगरेजी की शिक्षा पाई है। पं० केदारनाथ पाठक के संसर्ग में बँगला का भी इन्होंने अच्छा अध्ययन किया। इनकी शैली पर बँगला की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। यह छाप इनकी सब प्रकार की रचनाओं में विद्यमान है, पर कहीं भी यह बाहरी नहीं लगती। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने साहित्य का कोई अंग अछूता नहीं छोड़ा। इन्होंने अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ आदि आधे दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं। कविताएँ भी इनकी बहुत हैं। अब तक इनकी कविताओं के छोटे-मोटे पाँच संग्रह प्रका-

शित हो चुके हैं। इनकी कहानियाँ भी बड़ी रसीली होती हैं। समाज के विकृत स्वरूप का चित्रण ये बड़ी खूबी के साथ करते हैं, पर उसमें कुरुचि नहीं आने पाती। हाल में 'कंकाल' नाम का इनका एक उपन्यास निकला है जिसमें इनकी कहानियों के सब गुण विद्यमान हैं।]

पृ० ७४. हिमालय का आँगन—आर्यावर्त; यहीं गंगा तथा सिंधु के जल से प्रक्षालित भूमि में भारतीय सभ्यता का उदय हुआ था। यहीं से सभ्यता दूसरे देशों में गई।

सप्त स्वर—संगीत के सात स्वर सा-रे-ग-म-प-ध-नि। सप्तसिंधु—वह प्रदेश जो आर्यों का आदिम निवास-स्थान था। साम-संगीत—सामवेद का गान। यह वैदिक काल था।

दधीचि—इन्होंने वृत्रासुर को मारने के निमित्त वज्र बनाने के लिये इंद्र को अपनी हड्डी दी थी।

बचाकर बीज रूप से......बड़े अभीत—प्रलय के समय केवल मनु अपनी नौका पर बच रहे थे। पुनः उन्हीं से मानव-सृष्टि हुई। वरुण-पथ—सागर।

सिंधु सा विस्तृत...वह राह—वनवासी रामचंद्र ने समुद्र के समान गंभीर और विस्तीर्ण उत्साह से बंदरों के द्वारा समुद्र के ऊपर लंका जाने के लिये पुल बनवाया था। रामेश्वरम् और सिंहल के बीच में कुछ टापू दिखाई देते हैं, वे इसी के भग्नावशेष बताए जाते हैं। शेषांश, कहते हैं, जल में डूब गया है।

धर्म का ले...कर दी बंद—विक्रम से पहले पाँचवीं शताब्दी में गौतम बुद्ध ने अपना अलग धर्म चलाया जो बौद्ध-धर्म कहाया। इसकी नींव करुणा और प्रेम पर रखी गई। बुद्ध ने हिंसा का घोर विरोध किया था।

विजय केवल...घर घर घूम—सम्राट् अशोक की ओर संकेत है जिसने बौद्धधर्म स्वीकार किया था और मनुष्य एवं पशु सब पर दया दिखलाई थी।

यवन को दिया...को भी सृष्टि—अशोक ने अंतियोक नामक यवन-राज तथा उसके सामंतों के राज्यों तक में मनुष्यों तथा पशुओं के चिकित्सालय खुलवाकर अपनी दया का परिचय दिया था। इसका उल्लेख उसके द्वितीय शिलाभिलेख में है। उसने चीन में उपदेशक भेजकर बौद्ध-धर्म का प्रसार किया था। स्वर्ण-भूमि—बर्मा। रत्न—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र्य।

कहीं से हम आए थे नहीं—इतिहासज्ञों का विश्वास है कि भारत में आर्य मध्य एशिया से आए थे। कुछ लोग उन्हें दक्षिणी द्वीपसमूहों से आया हुआ बताते हैं और कुछ कहीं से, कुछ कहीं से। पर कवि का मत है कि भारत ही से लोग और जगह गए हैं।

पृ० ७५. विपन्न—विपत्ति में पड़े हुए।

किंजल्क—केसर। कोकनद—लाल कमल। कबरीभार—जूड़ा।

पृ० ७६. चंद्रातप—चँदोवा। सोम—चंद्रमा।

मैथिलीशरण गुप्त

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म बाबू रामचरण गुप्त के यहाँ

सं० १९४३ में, चिरगाँव—झाँसी में, हुआ। ये शुद्ध खड़ी बोली में कविता करते हैं। व्याकरण के नियमों का कहीं भी उल्लंघन नहीं करते। यह गुण पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का शिष्यत्व प्रदर्शित करता है। इनकी कविताओं में उत्कट देशप्रेम भरा रहता है जो इस युग की विशेषता है। इसी लिये ये इस युग के प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं। बहुधा नवयुवक कवि गुप्तजी को ही आदर्श मानकर चलते हैं। 'भारत-भारती' इनकी सर्व-प्रिय रचना हुई है; पर उनका कवित्व उत्तरोत्तर प्रस्फुटित हो रहा है। झंकार, पंचवटी आदि कई ग्रंथ उनके बड़े सुंदर हुए हैं। इन्होंने तिलोत्तमा और चंद्रहास दो नाटक भी लिखे हैं। विरहिणी व्रजांगना, मेघनाद-वध, पलासी का युद्ध, इन बँगला ग्रंथों का अनुवाद भी किया है। साकेत महाकाव्य भी अपूर्व है। इन्होंने अपने गाँव में साहित्य प्रेस खोला है। इनका सारा समय साहित्य-सेवा में व्यतीत होता है—यही इनका व्यवसाय है।]

पृ० ८३. मोती—तारागण। सोना—शयन और सुवर्ण।

पृ० ८६. लहकते हैं—लेने लपकते हैं।

पृ० ८७. वैतालिक—भोर को जगानेवाले। केकी—मोर। तत्त्व-ज्ञान—परमात्मा के स्वरूप का परिचय।

पृ० ८८. आयोजनमय—बड़ी तैयारी का।

पृ० ८९. मनःप्रसाद—मन की प्रसन्नता। पुण्यगृहता—पवित्र गार्हस्थ्य।

पृ० ९०. सत्र···क्षेम—प्रेम की खैरियत संयोग में ही है, वियोग में नहीं।

राय कृष्णदास

[राय कृष्णदास का जन्म सं० १६४६ मार्गशीर्ष कृष्णा २ को, काशी में, हुआ। इनके पिता भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। ६ वर्ष की अवस्था में ये कविता करने लगे थे। इनके पिता के मौसेरे भाई बा० राधाकृष्णदास इन्हें देखकर बड़े प्रसन्न होते थे। जब ये केवल १२ वर्ष के थे तभी इनके पिता स्वर्गवासी हो गए। १६ वें वर्ष इन्होंने 'दुलारे रामचंद्र' नाम का एक उपन्यास लिखना आरंभ किया जो अधूरा रह गया। इन्होंने साहित्य के कई अंगों की श्रीवृद्धि की है। गद्य-पद्य दोनों में इनका कवित्व विकसित हुआ है। 'साधना' इनका बड़ा ही भव्य गद्य-काव्य है। कहानियाँ भी ये बिल्कुल नए ढंग की लिखते हैं। इनके कथानक का कलेवर छोटा होने पर भी कला-पूर्ण होता है। ये ललित कलाओं के मर्मज्ञ कोविद हैं। इनकी सबसे बड़ी कीर्ति इनका किया हुआ कला-कृतियों का संग्रह है जो आजकल नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी का एक अंग है।]

पृ० ६२. पदस्थ—चरणों पर पड़ा हुआ। सरूपता—क्योंकि प्रभु का दिव्य गात्र कुंदन के समान दमकता है।

सिहरता है—डर से काँप उठता है। क्षणदा—रात्रि, पर यहाँ बिजली। एक अंग खोके—कसौटी पर कसे जाने पर जो अंश कसौटी पर लग जाता है, उससे मतलब है। इसका निसर्ग-स्थान—भगवान् के चरणों से ही सबकी उत्पत्ति होती है और वही सबका अंतिम विश्राम-स्थल है। कौन कसे जाने की...झेल लेता है—इस बात में मैं उसकी समानता नहीं कर सकता। सोना स्वयं कष्ट सहकर औरों को प्रसन्न

करता है—वह तपस्वी है, उसका योग-मार्ग है, किंतु मेरा निस्तार प्रपन्न होने में ही है। मधुर मरंद—मीठा मधु, भगवच्चरणों का प्रेम।

गोपालशरण सिंह

[ठाकुर गोपालशरण सिंह का जन्म संवत् १९४८ में हुआ। ये रीवाँ-राज्यांतर्गत नई गढ़ी के इलाकेदार हैं और बड़ी सहृदयता के साथ अपने इलाके का प्रबंध करते हैं। स्कूली शिक्षा इन्होंने मैट्रिक तक ही पाई है। इनकी विद्या अधिकतर स्वाध्याय का ही फल है। इन्हें संस्कृत का भी पर्याप्त ज्ञान है। बाल्यकाल से ही इन्हें कविता से प्रेम है। २० वर्ष की अवस्था से इन्होंने स्वयं कविता लिखना आरंभ किया। 'सरस्वती' में इनकी कविताएँ अधिकतर छपा करती हैं। इनकी स्फुट कविताओं का संग्रह अभी हाल में 'माधवी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी भाषा साफ-सुथरी होती है और कविता में प्रवाह अच्छा रहता है। खड़ी बोली में घनाक्षरी लिखने में इन्होंने अच्छी सफलता पाई है।]

सियारामशरण गुप्त

[बाबू सियारामशरण मैथिलीशरणजी के छोटे भाई हैं। इनका जन्म सं० १९५२ में हुआ। मौर्यविजय, अनाथ, विषाद, आर्द्रा आदि इनके कई छोटे छोटे काव्य अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। आधुनिक समय की पुकार को इनकी वाणी ने जनता के मुग्ध हृदय तक पहुँचाने में सरस और सफल प्रयत्न किया है।]

पृ० ९८. मृतवत्सा—जिन माताओं के बच्चे मर गए हों। दुर्दांत—जिसका दमन न किया जा सके।

पृ० १००. स्वर्णवन—डूबते हुए सूर्य की सुनहली किरणों से रँगे हुए बादल।

पृ० १०२. अपूत—अपवित्र।

पृ० १०६. त्रुटि—दोष, कमी। उपकरण—सामग्री।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

[पं० सूर्यकांत त्रिपाठी के पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी बंगाल की महिषादल रियासत में नौकर थे। वहीं मेदिनीपुर में सं० १९५५ में इनका जन्म हुआ। इन्होंने मैट्रिक तक स्कूली शिक्षा पाई है। बँगला-साहित्य से इनका खूब परिचय है। पहले ये बँगला में कविता किया करते थे, बाद को इनका झुकाव हिंदी की ओर हो गया। कुछ समय से ये एक निराले ही छंद में कविता करते हैं जिसको सामान्य पिंगल के नियमों से पुराने विद्वान् छंद ही मानने को तैयार नहीं, यद्यपि उसमें भी गति होती है। परंतु उस गति के नियमों का ज्ञान अभी शायद ही उनके अतिरिक्त और किसी को हो। इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह "अनामिका" नाम से प्रकाशित हुआ है। इन्होंने रवींद्र बाबू के काव्य की समालोचना भी लिखी है।]

(१) नयन

पृ० ११२. मद भरे—(१) वियोग में लाल, प्रेम के मद से भरी हुई आँखें, (२) मुरझाए हुए, रक्त-कमलों से आँखों की उपमा दी है; मद...मीन हैं—पति (परमात्मा) के वियोग में स्त्री (भक्त) की आँखें लाल और मुरझाई हैं, आँख की कोरों में आँसुओं की बूँदें भी झलक रही हैं। इसी पर कवि संदेहालंकार की कड़ियाँ गूँथता

है। ये प्रेम-मद से पूर्ण आँखें हैं, या मधु से भरे मुरझाए हुए लाल कमल अथवा थोड़े से जल में व्याकुल मछलियाँ हैं ?

या प्रतीचा...दीन हैं—या रात भर किसी की बाट जोहते रहने पर भी उसके न आ मिलने के कारण इनकी यह दीन-हीन दशा हो रही है।

लोल—सतृष्ण और चंचल। ग्रीष्म—(१) गरमी का मौसम, (२) विरह-ताप। वर्षा—(१) वर्षा ऋतु, (२) आँसुओं की झड़ी। शीत—(१) हेमंत ऋतु, (२) प्रिय में प्रेम की शिथिलता, या उसकी निष्ठुरता। काल-ताल-तरंग—समय-सागर की लहरें। या पथिक...वह रहे—प्यासी आँखें मानों पथिक से कहती हैं कि जैसे तपस्वी लोग ग्रीष्म ऋतु में सूर्य्य की तीखी किरणों से, वर्षा की निरंतर झड़ी से, हेमंत की दुःखद शीत से अपने शरीर का बचाव न करते हुए साधना में लगे रहते हैं, इन कष्टों से वे विचलित नहीं होते, उसी प्रकार हम भी विरह की ज्वाला, आँसुओं की झड़ी और प्रिय की निष्ठुरता से विचलित नहीं होते, प्रेम की साधना में निरंतर तत्पर रहते हैं, और आशा से दिन गिन रहे हैं कि आखिर प्रिय पसीजेंगे और हमारे भी दिन आएँगे; ग्रीष्म, वर्षा और हेमंत आदि कष्टकर ऋतुओं के बीत जाने पर वसंत ऋतु आएगी अर्थात् प्रिय का मिलन होगा; तब भी हम स्थिर होकर बैठने नहीं पाते—समय-सागर की लहरें बहाए लिए जाती हैं।

वेणु वर—सुंदर बाँसुरी। वादन-निरत—बजाने में लगे हुए।

मौन हैं...ध्यान में—प्रिय (परमात्मा) हमारी ओर से चुप्पी साधे बैठे हैं। पर हम पतन में, उत्थान में—लहरों के उतार-चढ़ाव

में—समय के हेर फेर में, उस वंशी बजानेवाले की व्यापक तान में जो रहस्य छिपा हुआ है, उसे समझते हैं। रहस्य (मर्म) यह कि उत्थान और पतन में परमात्मा की ही इच्छा छिपी है। उसी की इच्छा से सब कुछ होता है। उसी की इच्छा से हमें भी कष्ट हो रहा है। वे जान-बूझकर मौन हैं। उनकी इस निष्ठुरता को जानकर भी हम उन्हीं के ध्यान में निरत हैं।

आह कितने...चुके—और वियोगियों के प्रियों के आ मिल जाने पर अपने प्रिय का मिलने के लिये न आना और भी खलता है।

खिल चुके—खिले फूल की तरह प्रसन्न हुए। कितने...हिल चुके—कितने कठोर लोगों के हृदय भी अपने वियोग से दुःखित जनों की व्याकुलता से हिल गए हैं, दयार्द्र हो गए हैं, अथवा भड़ककर भाग जानेवाले भी अब हिल-मिल गए हैं, अपना पिंड छुड़ाकर भागने की चेष्टा नहीं करते। अपने प्रेमी के पास रहना पसंद करते हैं, उसे वियोग का दुःख नहीं देते।

प्रिय व्यथा—विरह-जनित दुःख प्रिय से संबंध रखता है, इसलिये वह भी प्रिय है। तप...आँच में—जैसे सोना अग्नि में तपाया जाकर शुद्ध होता है उसी प्रकार प्रेमी भक्त के हृदय भी विरह की आँच में तप-कर शुद्ध हो गए हैं। अतएव अब झेलने को कोई दुःख शेष नहीं है।

वे—प्रिय (परमात्मा) कोमल कुसुम हैं, कौन हैं ? वे फूल की तरह कोमल हैं या वज्र की तरह कठोर। यह लिखते समय 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' यह श्लोकार्ध कवि की स्मृति में था। किंतु प्रिय को कठोर कहना भी उसे अभीष्ट न था इसलिये 'या कठोर

वज्र हैं' न कहकर 'कौन हैं ?' से उसने उस कठोरता की व्यंजना की है जो अकथनीय है।

(२) तुम और मैं

पृ० ११३. तुंग शृंग—ऊँची चोटी। तुम तुंग...सुर-सरिता—तुम्हीं ने मुझे जन्म दिया है। गंगा हिमालय से निकली है। तुम स्थिर हो, अविनाशी हो और मैं चंचल, परिवर्तनशील। विमल हृदय-उच्छ्वास—भावों का निर्मल उद्रेक। कांत—दिव्य, सुंदर। तुम विमल...कविता—मेरा तुमसे अटूट संबंध है। बिना भावों के उद्रेक के कविता असंभव है और भाव अपनी अभिव्यक्ति के लिये कविता का पल्ला पकड़ते हैं। परंतु भावों के लिये व्यक्त होना जरूरी नहीं। बिना कविता के भी उनका अस्तित्व रहता है। यही बात परमात्मा और सृष्टि के प्रतिनिधि मनुष्य के संबंध में भी ठीक है। बिना कर्ता के सृष्टि नहीं हो सकती सही; पर अपनी अभिव्यक्ति के लिये उसे सृष्टि-रचना करनी पड़ती है। वह अव्यक्त भी रह सकता है; पर उससे उस दशा में रहा नहीं जाता।

प्रेम—भक्ति। शांति—मुक्ति जो परमात्मा के प्रेम से मिलती है। तुम प्रेम...शांति—हमारा-तुम्हारा कार्य्य-कारण संबंध है। भक्ति कारण है और मुक्ति कार्य्य। सुरापान घन अंधकार—मदिरा-पान से नशे के कारण बुद्धि का प्रलय हो जाता है और शून्य अथवा अंधकार ही सा भासित होने लगता है। एक प्रकार की अव्यक्तावस्था हो जाती है। परमात्मा भी सत् असत् दोनों से परे एक अव्यक्त ही सा है। मतवाली भ्रांति—नशे की खुमारी, जिसमें बड़ा

सुखद भ्रम होता है। फ़ारसी के शायरों ने इसकी बड़ी तारीफ़ की है। तुम सुरापान...भ्रांति—तुममें श्रौर मुझमें कोई भेद नहीं, भेद है तो केवल अवस्था या परिस्थिति का। परमात्मा ही माया का भ्रामक, किंतु श्राकर्षक श्रावरण पहनकर जीव हो जाता है।

दिनकर के खर किरण-जाल—सूर्य्य की प्रचंड किरणों का समूह। सरसिज की मुसकान—कमल का खिल उठना, सूर्य्य की किरणों से कमल खिल जाता है। तुम दिनकर...मुसकान—मेरा सुख-दुःख तुम्हारे पीछे लगा है। इस रूपक से ईश्वर की विराट् शक्ति श्रौर जीव की अतिशय लघुता लक्षित होती है।

वर्षों का बीता वियोग—जिसकी केवल धुँधली स्मृति भर रह गई है। श्रप्रिय होने के कारण वियोग स्मरणीय नहीं होता। परमात्मा का भी श्राभास ही मिल सकता है, भौतिक वस्तुश्रों की तरह स्पष्ट ज्ञान नहीं। पिछली पहचान—हाल की पहचान, जिसका स्पष्ट ज्ञान होता है। नई नई पहचान बड़ी सुखद भी होती है।

तुम योग श्रौर मैं सिद्धि—योग की साधना कैवल्य-प्राप्ति श्रर्थात् परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाती है। परंतु योगियों को कई प्रकार की सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं जिनमें वे ऐसे रम जाते हैं कि मुख्य उद्देश्य का ज्ञान ही नहीं रहता। सिद्धि भी माया का ही एक रूप है। योग के श्रंतरायों (विघ्नों) में उसकी भी गिनती की गई है। योग की साधना कठिन है, सिद्धियों के लोभ में पड़ जाना बहुत सरल है।

रागानुग—राग है अनुग जिसका। जो मन की सब वृत्तियों को अपनी ओर खींच लेता है। राग के दमन से कोई लाभ नहीं, वह फिर फिर सिर उठाता रहेगा। शांति तभी हो सकती है जब उसको एक ही मार्ग पर लगा दिया जाय। निश्छल—दंभ-रहित, जिसमें पूजा प्राप्त करने की स्पृहा नहीं होती। शुचिता—विशुद्धि। सरल समृद्धि—आडंबर-शून्य ऐश्वर्य्य। तप...समृद्धि—सच्चे तप से तपस्वी को जो विशुद्ध पवित्रता प्राप्त होती है वह भी एक प्रकार की समृद्धि ही है; पर है वह सरल, आडंबरशून्य।

मृदु-मानस के भाव—मन के कोमल और मधुर भाव। मनोरंजिनी—मन को प्रसन्न करनेवाली। तुम मृदु...भाषा—जैसे भाषा भावों का व्यक्त रूप है, वैसे ही मैं तुम्हारा व्यक्त रूप हूँ।

नंदन-वन-घन-विटप—(यहाँ विटपी के लिये विटप आया है) इंद्र के बगीचे—नंदन कानन—का घनी पत्तियोंवाला कल्पवृक्ष। सुख-शीतल-तल—जिसका तल अर्थात् अधोभाग सुखद और शीतल है। तुम नंदन...शाखा—तुम पूर्ण हो; मैं तुम्हारा एक अंश हूँ और तुम्हारी ही दया से पला हूँ। अंशांशि संबंध।

तुम प्राण...काया—तुम मेरे सूक्ष्म रूप हो, मैं तुम्हारा स्थूल रूप। सच्चिदानंद—सत् = सत्य + चित् = ज्ञान + आनंद। सत्यं ज्ञान-मानंदं ब्रह्म। माया—वह प्रकृति जो सृष्टि के नाना नाम-रूपों का भेद कर सबको भुलावे में रखती है।

कंठहार—गले का हार, कंठा। वेणी कालनागिनी—सर्पिणी के समान काली चोटी जो हमेशा पीछे पीठ ही पर पड़ी रहती है।

झंकृत—बजाया। तुम वर...रागिनी—जैसे सितार से रागिनी बजती है, वैसे ही मेरा भी तुम्हीं से उद्भव हुआ है। परंतु तुम्हारे वियोग का दुःख भी मेरा अभिन्न अंग है। मैं सितार से निकली हुई रागिनी तो हूँ, पर हूँ विरह-रागिनी।

तुम पथ...रेणु—(अंशांशि संबंध) तुम पूर्ण हो, मैं तुम्हारा एक अत्यंत क्षुद्र अंश हूँ।

राधा-मोहन—कृष्ण। तुम हो.. वेणु—तुम कृष्ण हो और मैं तुम्हारी बाँसुरी हूँ जिसे तुम अपने ओंठों से बजाते हो। मैं तुम्हारी क्रीड़ा का उपादान हूँ। दर्शनशास्त्री कहते हैं कि परमात्मा ने लीला के लिये ही सृष्टि की रचना की।

पृ० ११४. तुम पथिक...श्रांत—दूर से आता हुआ पथिक बहुत धीरे धीरे चलता है। परमात्मा देर पर सुध लेता है; परंतु शरणागत भक्त की सुध लेता है अवश्य। इसी आशा को हृदय में रखकर भक्त अपने आप को अमर 'आशा' कहता है जो कितने ही विलंब होने पर भी बाट देखना नहीं छोड़ती।

तुम भवसागर...दुस्तर—जैसे इस संसार-सागर को पार करना कठिन है वैसे ही तुम्हें जानना भी। पार जाने की मैं अभिलाषा—मैं पार जाना चाहता हूँ। तुम अज्ञेय हो सही किंतु मैं भी जिज्ञासु हूँ।

तुम नभ...नीलिमा—तुम्हीं व्यापक हो, तुम्हारी ही अव्यक्त सत्ता सर्वत्र विराजमान है; पर मैं भी तुममें अवश्य भासमान रहता हूँ।

शरद-सुधाकर-कलाहास—शरद् ऋतु के चंद्रमा की कलाओं का विशद् विकास। मानों चंद्रकला के हँसने से ज्योत्स्ना फूट पड़ती है।

शरद् ऋतु में आकाश बहुत स्वच्छ रहता है, इससे चंद्रमा की कौमुदी भी बहुत उज्ज्वल होती है। निशीथ-मधुरिमा—अर्ध-रात्रि का माधुर्य (सौंदर्य्य) जो कौमुदी से अधिकाधिक बढ़ता है। तुम गंध-कुसुम...समीर—तुम कोमल परागवाले सुगंधित फूल हो मैं मंद गतिवाला वायु हूँ। जैसे वायु फूलों की सुगंधि को वहन कर उसे दसों दिशाओं में फैलाती है उसी प्रकार मैं तुम्हारे (कर्त्ता के) यश को फैलाता हूँ। समीर दूसरे के सौरभ से ही सुरभित होता है। कृति से कर्त्ता की ही प्रशंसा होती है।

पुरुष और प्रकृति—सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति दोनों की सत्ता मानता है। दोनों अनादि हैं। भेद इतना ही है कि प्रकृति पुरुष के वश में है और पुरुष स्वतंत्र है। पुरुष देखता रहता है और प्रकृति सृष्टि का कार्य्य करती रहती है। पुरुष ने आँखें बचाईं कि प्रकृति ने कार्य्य बंद किया। जब तक प्रकृति क्रियाशील रहती है तभी तक सृष्टि का कार्य्य चलता है। अतएव प्रकृति ही इस कार्य्य का बंधान बाँधे हुए है। वह मानों भिन्न भिन्न तत्त्वों को एक में बाँधनेवाली प्रेम की जंजीर है। पुरुष और प्रकृति सृष्टि के पुरुष और स्त्री तत्त्व भी माने गए हैं। आगे की दो तीन पंक्तियों में इसी भाव को विकसित किया है।

शक्ति—दुर्गा, चंडी। अचला-भक्ति—अटल भक्तिवाली।

मधुमास—चैत्र, वसंत का पहला महीना। पिक-कल-कूजन-राग—कोयल के गान की सुंदर तान। वसंत में ही कोयल कूकती है। तुम्हीं हमारे आनंददाता हो।

मदन—कामदेव। पंचशर-हस्त—जिसके हाथ में पाँच बाण हैं। जिसके अधीन पाँचों तत्त्व हैं। मुग्धा—जो अभी काम के बाणों का शिकार नहीं हुई है, अनजान। पाँचों तत्त्व तुम्हारे हाथ में हैं और मैं उन्हीं के इशारे पर नाचनेवाला अज्ञान जीव हूँ।

दिग्वसना—दिशाएँ हैं वस्त्र जिसके, पृथ्वी। तुम...दिग्वसना—तुम आकाश हो और मैं तुम्हारे आलिंगन में पड़ी हुई पृथ्वी। (माधुर्य भाव)। इससे "तुम अंबर अर्थात् वस्त्र हो और मैं दिग्वसना अर्थात् नग्न हूँ" यह निष्ठुरता-व्यंजक उपालंभ भी सूचित होता है।

तुम चित्रकार ..रचना—तुम चित्रकार के घन-रूप काले चित्रपट हो, मैं उस पर बिजली की कूची से खिंची हुई लकीर हूँ। (माधुर्य-भाव)।

तांडव—भगवान् रुद्र का उद्धत नृत्य। कहते हैं, जब रुद्र सृष्टि का संहार करने लगते हैं तब तांडव नृत्य करते हैं। संहारकारी होने से ही तांडव को उन्माद कहा है। रण भी संहारकारी है; इसलिये उसके तांडव की भावना की गई। युवति-मधुर-नूपुर-ध्वनि—युवतियों की पैंजनी की मीठी झनकार अर्थात् उनका नृत्य। ऊपर अपने को प्रेम की जंजीर प्रकृति कह आए हैं। वही भाव यहाँ भी है। तुम रण...ध्वनि—तुम संहार करने में भी समर्थ हो क्योंकि तुम 'स्वेच्छा-चारी मुक्त पुरुष' हो, मैं केवल आकर्षण के द्वारा रचना के कार्य में ही तुम्हारी सहायता करनेवाली प्रकृति हूँ।

नाद—देखो पृ० ५ के 'गवद' पर टिप्पणी। वेद—चार वेद जो ज्ञान के भंडार हैं। आकार—रूप। कवि-शृंगार-शिरोमणि—कवियों

का उत्तम शृंगार रस। तुम नाद...शिरोमणि—तुम शब्दादिक के सार अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जो संसार का नाश कर देता है और मैं शृंगार रस हूँ जो सांसारिक अनुराग को बढ़ाकर संसार के बंधन को और भी दृढ़ करता है। अथवा तुम नाद-वेद अर्थात् संगीत-विद्या के सार-रूप ओंकार हो और मैं कवियों को भूषित करनेवाला उनका मुकुटमणि अर्थात् सर्वोत्तम कवि हूँ जो तुम्हें व्यक्त करता हूँ। ब्रह्मा आदिकवि और ओंकार उनके कंठ से निकला प्रथम संगीत माना जाता है।

तुम यश...प्राप्ति—तुम यश हो, तत्त्व-रूप हो; क्योंकि यश का कोई आकार नहीं। किंतु मैं उस यश की प्राप्ति हूँ जो एक घटना है और वास्तविक संसार से संबंध रखती है। तुम कुंद...व्याप्ति—कवि लोग बहुधा यह कल्पना किया करते हैं कि जितनी चीजें सफेद हैं वे किसी यशस्वी के यश के कारण ही। यहाँ भी यश के कारण ही कुंद, चंद्रमा और श्वेत-कमल श्वेत हुए हैं। भक्त की भावना में यदि परमात्मा यह श्वेतता है तो वह स्वयं श्वेतता व्याप जाने की क्रिया है।

सुमित्रानंदन पंत

[पं० सुमित्रानंदन पंत का जन्म सं० १९५८ में, अल्मोड़े में, हुआ। इनके पिता पं० गंगादत्त बड़े धर्मनिष्ठ थे। पिता में जिस सहृदय-भावना ने धर्मनिष्ठा का चोला पहना था, पुत्र में वह कवित्व होकर आई। सुमित्रानंदनजी ने एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की; पर अप्राकृतिक शिक्षा का बंधन इन्हें रुचा नहीं। कालेज छोड़कर प्रकृति देवी

की अप्रतिबंध गोद को इन्होंने अपना शिवालय बनाया। प्रकृति देवी के ही इष्ट से इन्हें कवित्व-सिद्धि हुई। इनके 'उच्छ्वास' ने एक प्रतिभा-नक्षत्र की उदयदिशा का संकेत दिया। इनके 'पल्लव', 'वीणा' और 'ग्रंथि' में इसकी प्रखरता कुछ लोगों को असह्य हुई। आशा है, 'मधु-वन' की छाया ऐसे लोगों को भी रुचेगी। सुमित्रानंदनजी ने कविता-क्षेत्र में एक नया पौधा रोपा है। इसकी काट-छाँट इन्होंने अपने ढंग की की है। इनकी कविता में भाषा-सौष्ठव है, प्रवाह है और है उत्प-तनशीलता। इन्होंने अँगरेजी साहित्य का भी परिशीलन किया है, इससे इनमें अँगरेजी भावों का आना स्वाभाविक है। परंतु अब वे धीरे धीरे हिंदी के अनुरूप होकर आ रहे हैं। इनका गद्य भी वैसा ही अलंकृत होता है जैसा इनका पद्य।]

(१) प्रथम रश्मि

पृ० ११९. हे रंग-बिरंगी विहग-बालिका! तूने यह किस भाँति जाना कि सूर्य की पहली किरण आ गई है।

तूने यह गाना किससे सीखा? (तू बड़ा मधुर गाती है।)

तू तो अपने अंगों को पंखों के नीचे समेटकर सुख से स्वप्न-नीड़—शयनगृह अर्थात् घोंसले में सो रही थी।

अभी तो रात ही थी; क्योंकि तेरे घोंसले के आसपास जुगनू (रात्रि के अंतिम पहर में) चौकीदारों की तरह घूमकर ऊँघ रहे थे।

चंद्र-किरणों के द्वारा पृथ्वी पर उतरकर इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाले देवता (नभचर) नई कलियों के कोमल मुँह चूम-कर उन्हें हँसना सिखा रहे थे; क्योंकि अभी थोड़ी ही देर में उन्हें

हँसना पड़ेगा। बिना तेल के तारा-रूप दीपक जल रहे थे। पेड़ों की पत्तियाँ साँस नहीं ले रही थीं अर्थात् हवा से हिलती न थीं। पृथ्वी में स्वप्न घूम रहे थे। अंधकार ने अपना शामियाना फैलाया था। (उषःकाल से पहले खूब घना अंधकार छाया रहता है।) ऐसे ही समय में, जब कि पहली किरण के आने का कोई लक्षण न था, हे पेड़ पर बसनेवाली ! तू अचानक स्वागत का गान गाने लगी।

पृ० ११६. हे सबके भीतर रहनेवाली (मालूम होता है कि तू घट घट की बात जानती है, नहीं तो बता) तुझे उसका आना किसने बताया ?

सृष्टि के अंधकारमय गर्भ से निकलकर बहुत से दुष्ट भूत-प्रेत, जिनका शरीर छाया का बना होता है और जिनकी छाया नहीं पड़ती, अपने जादू-टोने चलाकर षड्यंत्र रच रहे थे। (मानों इन्हीं के भय से) रात्रि के परिश्रम से क्लांत शोभाहीन जुन्हैया अपना मुँह छिपा रही थी (चंद्रमा अस्त हो रहा था)।

अभी कमल की गोद में भौंरा कैद पड़ा था (क्योंकि सूर्य्य-किरणों के अभाव में कमल रात को मुकुलित रहते हैं)।

चकवा अपनी चकवी के वियोग-जनित शोक से पागल था (रात्रि में इनका वियोग होता है, सूर्योदय पर फिर मिल जाते हैं)।

(लोगों के सोए रहने के कारण उनकी) इंद्रियाँ मूर्च्छित (निर्जीव सी) पड़ी थीं। संसार निःस्तब्ध निश्चेष्ट हो रहा था। जड़ और चेतन सब एक से हो रहे थे। सृष्टि शून्य सी मालूम पड़ रही थी

मानो इसमें कोई है ही नहीं। केवल जीव-जंतु साँस ले रहे थे, यदि जीवन का कोई चिह्न था तो यही।

हे विहंगिनी! तुझे दूर की सूझी, सबसे पहले तूने ही प्रभाती की तान छेड़ी; और, हे आकाश-विहारिणी! इस प्रकार तूने ही शोभा, सुख और सुगंधि का सम्मेलन कराया। (कपड़े की बुनावट में लंबाई में जो तागा गुँथा रहता है वह ताना और जो चौड़ाई में रहता है वह बाना कहलाता है।)

मानो अचानक आकार-रहित तम (परमात्मा का भी कोई आकार नहीं है) प्रकाश के प्रसार में साकार हो शीघ्र ही अनेक नाम और रूप धारण कर जगत् बन गया। (देखो—आसीदिदं तमो-भूतम्—मनु०। नामरूपे व्याकरवाणि—उपनि०)

पृ० ११७. पेड़ों के पत्ते हर्ष से रोमांचित होकर काँप से उठे।

सोई हुई वायु ने धैर्य छोड़ दिया, अर्थात् चंचल होकर चलने लगी।

फूलों के दल पर ओस की बूँदें छिटककर मोती के दानों के समान चमकने लगा। उस समय ऐसा मालूम होता था मानो फूलों के ओठों के दलों पर हँसी झलक रही हो।

सबकी पलकें खुलीं। सूर्य की सुनहली किरणों से सारी सृष्टि सुनहली हो गई।

महक खिल उठी, भौंरे उड़ने लगे (डोलने में एक फूल से दूसरे फूल पर उड़ जाने का भाव है)।

धड़कन, गति और नया जीवन इनको जगत् ने अपनाना सीखा अर्थात् अपनाया (सारी प्रकृति में जीवन के लक्षण दिखाई देने लगे)।

स्वर्गिक—स्वर्ग का।

(२) छाया

दमयंती-सी—नल दमयंती को पेड़ के नीचे सोती हुई छोड़कर चले गए थे।

अलि—हे सखी! विरक्त लोग सूखे पत्तों की शय्या पर ही लेट रहते हैं, बिस्तर की उन्हें अपेक्षा नहीं रहती। तुम भी सूखे पत्तों पर लेटी हुई साक्षात् विरक्ति ही मालूम पड़ रही हो। तुम ऐसी निश्चेष्ट पड़ी हुई हो मानो स्वयं मूर्तिमती मूर्च्छा ही हो।

इस निर्जन वन में विरह से मलिन और दुःख से व्याकुल तुम कौन पड़ी हो?

पृ० ११८. पश्चात्ताप की छाया सी भूमि पर निश्चेष्ट पड़ी हुई हो। तुम साक्षात् दुबलापन और अँगड़ाई सी जान पड़ती हो। तुम अपराधिनी की तरह डर से चुप हो। आखिर तुम हो कौन?

क्या तुम इस निर्जन वन के बीच, निर्जनता के हृदय की पाटी पर, निर्दय काल की निर्दयताओं का इतिहास बार बार ठंडी आहें भरकर लिख रही हो?

अपने जीवन के मैले पन्ने पर तुम आप-बीती का वह करुणोत्पादक तथा अत्यंत कोमल चित्र खींच रही हो जो बिना बोले ही सब कुछ कह डालता है। (अर्थात् तुम पर कोई आपदा आई थी जिसने तुम्हारी यह दुर्दशा कर दी है।)

सूर्य-कुल में सुंदर जन्म पाकर (क्योंकि जब सूर्य का प्रकाश होता है तभी छाया पड़ती है) नित्य इस श्रेष्ठ पेड़ के साथ वृद्धि पाती हुई (जैसे जैसे पेड़ बढ़ता है वैसे वैसे उसकी छाया भी बड़ी पड़ती है) पेड़ से मुरझाकर गिरे हुए पत्तों से तू अपना कोमल शरीर ढकती है (अर्थात् वे तेरी साड़ी बनते हैं)।

पृ० ११६. तुम परोपकार में लगी रहती हो, नित्य थके हुओं को अपनी छाया में विश्राम देकर उनकी बेहद थकावट मिटाती हो।

हे सखि, हम एक दूसरे का आलिंगन कर अपने (विरह-तप्त) प्राण शीतल कर लें जिससे फिर तुम अपने स्वामी अंधकार में—जो प्रकाश के डर से तुम्हें छोड़ भाग गया है—और मैं प्रियतम (परमात्मा) में शीघ्र ऐसे मिल जायँ कि हमारा अलग अस्तित्व ही न रहे।

रस-चषक

(रसों का प्याला)

[काव्य के आस्वाद को रस कहते हैं। रसों के आधार भाव हैं। जो भाव मन में बहुत काल तक रहकर उसे तन्मय कर दें वे ही रस हो जाते हैं। ऐसे भाव स्थायी भाव कहलाते हैं। अब तक प्रेम, हास, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, आश्चर्य, शोक और शांति ये नौ स्थायी भाव माने गए हैं। जो भाव मन में केवल अल्प काल तक संचरण कर चले जाते हैं वे संचारी भाव कहलाते हैं। ये प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न स्थायी भावों को रस की उच्च भूमि तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। संचारी और स्थायी भावों के अतिरिक्त रस की

निष्पत्ति के लिये विभाव और अनुभावों की आवश्यकता होती है। रसों को उदित और उद्दीप्त करनेवाली सामग्री विभाव कहलाती है। इसके तीन अंग हैं—आश्रय, आलंबन और परिस्थिति। विषयी आश्रय, विषय आलंबन और अनुकूल देश-काल परिस्थिति है। जैसे—सीता-विषयक प्रेम यदि राम में है तो राम उसके आश्रय, सीता आलंबन और जनकपुर का उपवन परिस्थिति समझना चाहिए। परिस्थिति को केवल उद्दीपन भी कहते हैं। अनुभाव आंतरिक मनोभाव का बाहरी शारीरिक लक्षण है। मुखमंडल की मुद्रा आदि भीतर के भावों को प्रकट करते हैं। आश्रय के हृदय में आलंबन को विशेष परिस्थिति में देखकर जो विशेष प्रकार का बहुत देर तक उसे मग्न कर देनेवाला उसकी आकृति से लक्ष्यमाण भाव उदय होता है उसकी अनुभूति का पाठक या श्रोता के हृदय में, रस के रूप में, आविर्भाव होता है। प्रेम से शृंगार और वात्सल्य, हास से हास्य, क्रोध से रौद्र, उत्साह से वीर, भय से भयानक, घृणा से वीभत्स, शोक से करुण, आश्चर्य से अद्‌भुत और शांति अथवा निर्वेद से शांतरस का उदय होता है।

इस प्याले में छंद १–५ शृंगाररस (दांपत्य प्रेम) के हैं। ६, ७ वात्सल्यरस (संतान के प्रेम) के। ८, ९ और १० हास्य के। ११, १२ रौद्र के। १३—१६ वीररस के (१६ वें छंद में दानवीर का वर्णन है)। १७, १८ और १९ वीभत्स के। २०—२३ भयानक के। २४, २५ अद्‌भुत के। २६, २७ करुण के और अंतिम दो शांतरस के।]

कवि मंडन—ये जैतपुर, बुंदेलखंड के निवासी थे। सं० १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में विद्यमान थे। इनके ग्रंथ हैं—रस-रत्नावली, रसविलास, जनक-पचीसी, जानकीजू को व्याह, नैनपचासा। कुछ बिखरे हुए फुटकर कवित्त भी हैं।

पृ० १२०. मोगरा—एक प्रकार का सुंदर और बड़े फूलवाला बेला। मदग्र—बनतुलसी। दौन—एक फूल।

द्विजदेव—यह महाराज मानसिंह का उपनाम था। ये अयोध्या के महाराजा और बड़े सरस कवि थे। इनकी मृत्यु सं० १६३० में हुई। ग्रंथ—शृंगार-बत्तीसी और शृंगार-लतिका।

पृ० १२१. देव—देवदत्त इटावे के रहनेवाले थे। ये सं० १७२६ में वर्त्तमान थे। ये बहुत बड़े कवि हुए हैं। भाव-विलास, भवानी-विलास, रसविलास, प्रेमचंद्रिका आदि इनके २६ ग्रंथ मिले हैं

घनानंद—इनका जन्म १७४६ में हुआ और १७९६ की नादिरशाही में ये मारे गए। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे। इनकी कविता अत्यंत रसवती है। ये विरक्त होकर निंबार्कमतावलंबी वैष्णव हो गए थे। ग्रंथ—सुजान-सागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकंद।

परजन्य—दूसरे के लिये जनना (बादल)। जीवनदायक—(१) जल देनेवाले, (२) जीवन देनेवाले। बिसासी—विश्वासघात करनेवाले।

बैल—महादेवजी की सवारी का नंदी। बाघ—दुर्गा का वाहन। कुत्ता—भैरवनाथ का वाहन। मूषक—गणेश का वाहन। भुजंग—शिवजी का आभूषण। मोर—स्वामिकार्तिक का वाहन।

पृ० १२२ भूधर कवि—इनका समय संवत् १८०१ है। ये असोथर के राजा भगवंतराय के आश्रित थे; इनके फुटकर कवित्त मिलते हैं।

पृ० १२३. केशव—केशवदास का जन्म सं० १६१२ में और मृत्यु १६७४ के लगभग हुई। ये ओड़छा के इंद्रजीतसिंह की सभा के पारिषद् थे। इन्होंने रामचंद्रिका महाकाव्य, कविप्रिया, रसिकप्रिया, जहाँगीर-जस-चंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित आदि कई ग्रंथ लिखे।

अरिहा—शत्रुघ्न। चाहैं—देखती रह जायँ।

पृ० १२४. लूम—पूँछ। जंभ—जंभासुर, जिसे इंद्र ने मारा था। वितुंड—हाथी।

भूषण—इनका जन्म सं० १६७० में और मृत्यु १७७२ में हुई। ये शिवाजी के राज-कवि थे। इन्होंने वीररस की बड़ी ओजस्विनी कविता लिखी है। इनके ग्रंथ शिवराज-भूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक हैं।

पृ० १२५. हलके—झुंड। गंज गज बकस—अनेक हाथियों के दाता।

फेरु—स्यार। कंक—सफेद चील। ओझरी—पेट, आमाशय। झुटुंग—झोंटेवाला। खोरि कै—नहाकर।

पृ० १२६. उतिन—उधेड़कर। लिथरे—लपेटे। पाइमाल—पामाल, नष्ट। बालखी—दुम।

सत्यनारायण (कविरत्न)—ये ब्रजभाषा के बड़े सुंदर कवि थे। इन्होंने भवभूति के मालतीमाधव और उत्तररामचरित नामक नाटकों का अनुवाद किया। इनकी रचनाएँ बड़ी सरस होती थीं।

पृ० १२८. छोहरा—छोकरे, बालक। छिगुनी—हाथ की छोटी अँगुली, कनिष्ठा।

पृ० १३०. कलधौत—सुवर्ण।

रसखान (सं० १६२०—१६८०)—ये जाति के तो पठान सरदार थे, पर थे वास्तव में उच्च कोटि के भगवद्भक्त वैष्णव। इनकी कविता प्रेमपूर्ण और रसीली है। ग्रंथ हैं प्रेम-वाटिका और सुजान-रसखान।